प्रकाशक—
युगांतर साहित्य-मंदिर,
भागलपुर सिटी

प्रथम आवृत्ति—वैशाख, १९९३
द्वितीय संस्करण—फाल्गुन, २०००,
मूल्य ३)

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, काशी।

भूमिका

वर्त्तमान सभ्यता के साथ-ही-साथ साहित्य का भी विकास हो रहा है। विकास में जहाँ अपनी मौलिक शक्ति के लिए स्थान है वहाँ दूसरो की शक्ति को लेकर आगे बढने की क्षमता भी रहती है। आधुनिक हिंदी काव्य पर उन सभी भाषाओ का प्रभाव पड़ा है जिनसे हिंदी को किसी-न-किसी तरह, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, सबंध रहा है। यह प्रभाव साहित्य के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक है, किंतु अच्छी चीजों का मोल जब बाजार भाव से होने लगता है तब उनमें कुछ मिलावट भी आ जाती है। हिंदी काव्य में भी जब अनुकरण-प्रियता बढ़ने लगी तब कविगण भाषा की शक्ति से कभी-कभी अधिक काम लेने लगे। परिणाम-स्वरूप वह दुरूहता आई जिसके चलते वर्त्तमान काव्य बहुत-कुछ बदनाम है।

इटली के प्रसिद्ध लेखक वेनेडेटे क्रोचे (Benedetto'Groce) ने सौंदर्य-शास्त्र (AEsthetıe) पर एक पुस्तक लिखी है। आरभ में मैंने क्रोचे के सौंदर्य-विषयक कुछ सिद्धातों की विवेचना की है। विवेचना करते समय मेरा ध्यान बराबर अपनी भाषा तथा विचार की सास्कृतिक विशेषता की ओर रहा है। क्रोचे के सिद्धातो में जो बातें भारतीयता के निकट प्रतीत हुईं उनपर मैंने अधिक ध्यान रखने की कोशिश की है, किंतु अपनी भाषा तथा विचार की सास्कृतिक विभिन्नता के कारण क्रोचे के सिद्धात की चर्चा करने की जहाँ गुँजाइश न थी वहाँ मैंने उसे छोड़ दिया है। हिंदी काव्य की जो वर्त्तमान प्रगति है उसी पर मैंने दो शब्द कहने का साहस किया है।

इस पुस्तक के प्रणयन के पहले काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष आदरणीय रायबहादुर श्यामसुदरदास ने मुझ से परामर्श के रूप में कहा था कि इस विषय पर निबध की तरह पुस्तक न लिखी जाय। विषय की गभीरता पर ध्यान रखते हुए इसका वैज्ञानिक वर्गीकरण होना चाहिए। इस परामर्श की तथ्यता पर विचार कर मैंने काव्य के सिद्धातों तथा प्रवृत्तियो को अध्यायों में विभक्त कर दिया है। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के प्रधान सुहृद्वर प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल, एम० ए०, ने भी मुझे इस सबध में कुछ परामर्श दिए, किंतु पुस्तक का अधिकाश छप जाने के कारण सुकुलजी के परामर्शों पर विचार करने का मुझे अवसर नहीं मिला। मुझे विश्वास है, मैं उनके परामर्शों से बहुत दूर नहीं हूँ।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे अँगरेजी, हिंदी तथा सस्कृत की कई पुस्तको से सहायता मिली है। अतएव उन सब ग्रथकारों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मुझे परम श्रद्धास्पद् पं० रामचद्र शुक्ल जी से इस सबध में बड़ी प्रेरणा मिली है। कहीं कहीं प्रसगवश मैंने क्रोचे तथा शुक्लजी के विचारों की तुलनात्मक विवेचना की है। क्रोचे की चर्चा इस पुस्तक के प्रायः पूर्वार्द्ध तक ही है। भारतीय समालोचक होने के कारण शुक्लजी ने अपनी रचनाओं में आधुनिक हिंदी काव्य की अनेक प्रवृत्तियों के सकेत दिए हैं। इसी कारण उनके विचारों की चर्चा बहुत बार हुई है। दुर्भाग्यवश दो-एक स्थल ऐसे भी आए हैं जहाँ मुझे श्रद्धेय शुक्लजी से मत-भिन्न होना पडा है। इस मतातर के कारण उनके प्रति आदर में कोई कमी नहीं आई है। आदरणीय शुक्लजी से मुझे जो कुछ सहायता मिली है वह मुझ पर उनकी कृपा के कारण ही।

इस पुस्तक का छपना पिछले साल ही शुरू हुआ था, पर कई कारणों से जिनमें आलस्य भी एक है, आज से पहले यह छप कर प्रकाशित न हो सकी। पुस्तक के पिछले कुछ अध्यायो की प्रेस कापी तथा नाम-सूची तैयार करने में मेरे एक छात्र श्री गोविंद-प्रसाद झा ने मदद की है, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद है।

देवघर,
मेष संक्रांति, १९९३

—सुधांशु

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'काव्य में अभिव्यजनावाद' का यह दूसरा संस्करण पाठको के संमुख उपस्थित हो रहा है। प्रथम आवृत्ति की प्रतियाँ कुछ दिन पहले ही शेष हो गई थीं और इसके द्वितीय संस्करण की आवश्यकता का अनुभव भी किया जाता था। किंतु, आज से पहले वह अवसर नहीं आया और कागज की मँहगी के जमाने मे भी प्रकाशक को इसके द्वितीय सस्करण को प्रकाशित करने की व्यवस्था करनी पड़ी।

काव्य-समीक्षा से अभिरुचि रखनेवाले पाठको ने इसे विशेष

रूप से पसद किया है, यह मेरे श्रम की सार्थकता है। दो-तीन वर्ष हुए, कॉटन कालेज, गुवाहाटी (असम) के प्रोफेसर विरञ्चिकुमार वरुधा, एम० ए०, ने इस पुस्तक का असमिया भाषा में अनुवाद कर उस क्षेत्र में इसके प्रचार में योग दिया है।

प्रकाशक की इच्छा थी कि मेरे लिए यदि सभव हो तो प्रकाशित होने के पूर्व परिवर्त्तन-परिवर्द्धन की दृष्टि से मैं एकबार इस पुस्तक को देख जाऊँ। कुछ मित्रों के परामर्श भी मिले। मैं स्वय इसको परिवर्द्धित करने की इच्छा रखता था, किंतु जब इसके द्वितीय मुद्रण का अवसर आया तब मैं लाचार रहा। मेरे पास पर्याप्त समय है, परतु उसके उपयोग की सुविधा नहीं। इसी कारण पुस्तक में दो-तीन स्थलो के अतिरिक्त विशेष परिवर्त्तन-परिवर्द्धन नहीं हो सके। हिंदी कविता की अत्याधुनिक प्रवृत्तियो का भी कुछ विशद विश्लेषण हो सकता तो अच्छा था। फिर भी, इतना निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि विगत पॉच-छः वर्षों में हिंदी कविता में किसी ऐसी प्रवृत्ति का जन्म नहीं हुआ जिसकी चर्चा पहले न की गई हो। मेरे सचेष्ट रहने पर भी जो त्रुटियाँ रह गई हों उनके लिए पाठक मुझे क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

भागलपुर
पौष कृष्ण १४, वि० २००० स० } —**सुधांशु**

विषयानुक्रमणिका

संस्कृत साहित्य-शास्त्र का परिचय

पहला अध्याय

सहजानुभूति का तत्त्व

[पृष्ठ ३—२७ तक]

प्राक्कथन—क्रोचे के मतानुसार ज्ञान के दो खड—लॉक के मतानुसार ज्ञान के दो भेद—बर्कले और बेकन के विचार–अरिस्टॉटल के अनुयायियों का मत—सीमा और काल की निरपेक्षता—डेकार्टे के अनुसार इद्रिय-ज्ञान का सापेक्ष्य—बुद्धितत्त्व और इद्रिय-ज्ञान—ज्ञानेंद्रियों के पॉच से अधिक धर्म नहीं—ज्ञानेंद्रियॉ ज्ञाता नहीं कहलातीं—मन और बुद्धि के कार्य—सहजानुभूति, कला का बोध-पक्ष—उदाहरण—सहजानुभूति और विचार का प्रकृत भेद—बिंव-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण–वास्तविक और काल्पनिक सहजानुभूति–सहजानुभूति और विचार का समन्वय–उदाहरण सहजानुभूति की विशेषता–सहजानुभूति और सैद्धातिक उक्तियॉ—अनुभव केलिए सहजानुभूति की अपेक्षा—सहजानुभूति की तीन प्रक्रियाएँ—वस्तु का महत्त्व–आकृति की विशेषता—वस्तु और आकृति का अंतर—भाव-पक्ष और कल्पना-पक्ष—आचार्य शुक्ल के विचार—स्वप्न का रहस्य—सहजानुभूति और स्वप्न में भेद—स्वप्न का मनोवैज्ञानिक प्रभाव—सहजानुभूति और अनुभूतिवाद—स्वप्नगत वैचित्र्य के कारण—स्वप्न और कला—आध्यात्मिक सत्ता का कला में समन्वय न करने का परिणाम—काव्य में गणित का सयोग—सहजानुभूति और इद्रियबोध तथा सवेदन—सहजानुभूति और अभिव्यजना की एकात्मता—सहजानुभूति केलिए यथार्थ और अयथार्थ आधार।

दूसरा अध्याय

अभिव्यंजना और कला

[पृष्ठ २८—५७ तक]

प्रभाव की अभिव्यक्ति—अभिव्यक्ति और मानव-प्रकृति—सत्या-सत्य का भेद—प्रकृत सत्य और काव्यगत सत्य—काव्यगत सत्य की प्रकृति—काव्यगत सत्य का औचित्य—कला प्रकृति की अनुकृति है—समीक्षा—कला, कला केलिए—समीक्षा—कवींद्र रवींद्र का विचार—कला का लक्ष्य—ब्रैडले का विचार—रिचर्डस् का विचार—कला में द्वित्व की भावना—समीक्षा—कला और सहजानुभूति—समीक्षा—कला-निर्माण में चेतनता-अचेतनता की स्थिति—कला-निर्माण के दो भेद—स्वतः-प्रसूत कला—छोटे-छोटे भाव-खडो के आधार पर काव्य-निर्माण—संवेदन और कला—पशु और मनुष्य का भेद—अभिव्यजना में अभिनय का योग—आचार्य शुक्ल के विचार—समीक्षा—अभिव्यंजनावाद में भाव-व्यजना तथा वस्तु-व्यंजना—अभिव्यजनावाद में अनुभूति, प्रभाव और वाग्वैचित्र्य का स्थान—अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद—मानव-चरित्र का निर्माण—अनुभव और निर्णय—प्रभाववादी समीक्षा की समीक्षा—वस्तु और विधान-विधि का महत्त्व—रचना-नैपुण्य का महत्त्व—कलाकार के व्यक्तित्व की अपूर्ण अभिव्यक्ति।

तीसरा अध्याय

रसानुभूति का तत्त्व

[पृष्ठ ५८—८६ तक]

सौदर्य और आनंद—सौदर्य में निजत्व—काव्यानुभूति और

साधारणीकरण—काव्यानुभूति और रसानुभूति—काव्य में जातीयता–संस्कार का आवरण—सस्कार और रसानुभूति—सद्गुण का महत्त्व—रसानुभूति के अयोग्य कथानक—प्रकृति-वैचित्र्य और आलंबनात्मक धर्म—काव्यगत पात्र के साथ तादात्म्य—बाह्य और काव्यगत प्रभाव—चित्तवृत्ति और अनुकपा—रस-व्याघात का परिणाम—तादात्म्य और शील-दर्शन—धर्म और पाप के चित्रण का परिणाम—प्रकृत और अतिप्रकृत—न्याय और दया—करुणा और घृणा की अनुभूति—उपर्युक्त भावों का विवेचन—पहला पक्ष—दूसरा पक्ष—दोनो पक्षो का विवेचन—तात्कालिक रसानुभूति—भाव और विचार—अंतर्वृत्ति का सौदर्य—अतिप्राकृत सौदर्य और रसानुभूति—वैचित्र्य का साक्षात्कार—आश्चर्यपूर्ण प्रसादन—आश्चर्य-पूर्ण अवसादन—कुतूहल-रसानुभूति के स्वरूप—व्यक्ताव्यक्त भाव—भाव-सकेत—भाव-विश्लेषण—रस का प्रयोजन और उसके नवीन ढग से विवेचन की आवश्यकता।

चौथा अध्याय

अलंकार और प्रभाव

[पृष्ठ ८७—१२५ तक]

प्राक्कथन—अलकार का उद्देश्य—क्रोचे और अलकार—भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अलकार का प्रवेश—उक्ति और अलकार—भाव के क्षेत्र में अलकार—न्याय तथा दर्शन के क्षेत्र मे अलकार—वाणी के क्षेत्र मे अलकार—क्रिया के क्षेत्र में अलंकार—व्याकरण के क्षेत्र में अलकार—शब्दाभाव पर स्थित अलकार—अलकारो का निरूपण—

अलंकार का प्रयोजन—प्रेषणीयता में अलकारत्व—अन्योक्ति—वाच्यार्थ में अलकार—सादृश्य और साधर्म्य—प्रभाव—साधर्म्य का आंशिक आधार—सादृश्य का अभाव—प्रस्तुत की अवहेलना—व्यंग्य-रूपक—अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना—व्यंग्य-व्यंजक भाव—ध्वनि में अलकार—कल्पना और अनुभूति—प्रस्तुत-विधान—अलंकारो की प्रभाव-हीनता—उपमा की दो विशेषताएँ—गणित की योजना से भाव-हानि।

पाँचवाँ अध्याय

प्रतीक और उपमान

[पृष्ठ १२६ से १३५ तक]

ज्ञान-क्षेत्र मे भाव-प्रसार—प्रतीक और उसके दो भेद—प्रतीक की उद्भावना के रहस्य—प्रतीक और उसकी विशेषताएँ—प्रतीक और उपमान—प्रतीक-स्वरूप उपमान।

छठा अध्याय

अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान

[पृष्ठ १३६ से १४४ तक]

लाक्षणिक प्रयोग की विशेषता—लाक्षणिक मूर्त्तिमता का कारण—लक्षणा पर लक्षणा—लाक्षणिक प्रवृत्ति का विकास—सूक्ष्म का मूर्त्त—धर्म केलिए धर्मी का प्रयोग।

सातवाँ अध्याय

मूर्त्त का अमूर्त्त-विधान

[पृष्ठ १४५ से १५० तक]

आठवाँ अध्याय

अभिव्यंजना की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ

[पृष्ठ १५१ से १५८ तक]

नवाँ अध्याय

उपसंहार

[पृष्ठ १५९ से १६२ तक]

काव्य में अभिव्यंजनावाद

संस्कृत साहित्य-शास्त्र का परिचय



अभिव्यंजनावाद के स्वरूप को निश्चित करने और उसकी समीक्षा के पहले यह बहुत आवश्यक प्रतीत होता है कि संक्षिप्त रूप से संस्कृत साहित्य-शास्त्र का परिचय दिया जाय। इससे यह पता चलेगा कि संस्कृत में साहित्य-शास्त्र के कितने सिद्धांत हैं और उनसे अभिव्यंजनावाद की कितनी समता या विषमता है। अभिव्यंजनावाद पश्चिमीय साहित्य-जगत् की उपज है, किसी भारतीय साहित्य-शास्त्र के सिद्धांत से इसका पूरा-पूरा मेल नहीं है। ध्वनि और वक्रोक्ति से इसकी थोड़ी-सी समता है, किंतु यह समता स्वतंत्र रूप से आई है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के सिद्धांत बहुत पुराने हैं और यूरोप के साहित्य का अभिव्यंजनावाद अभी कल की बात है। भाव-प्रकाशन की शैली और क्षमता, प्रत्येक देश या जाति की क्या, हरएक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न होती है। यूरोपीय अभिव्यंजनावाद की जो छाया हिन्दी काव्य-जगत् पर पड़ी है वह सर्वथा विशुद्ध नहीं। उस पर भारतीय साहित्य का संस्कार वर्त्तमान है। रस और अलंकार का जितना सूक्ष्म निरीक्षण हमारे साहित्य में है उतना यूरोपीय साहित्य में कहाँ मिलता है! भारतीय दृष्टिकोण से अभिव्यंजनावाद की समीक्षा के लिए यहाँ के साहित्य-सिद्धांतों का परिचय आवश्यक समझ पड़ता है।

प्राक्कथन

रस

सर्व समति से भरत रस के आदि आचार्य माने जाते हैं, किंतु राजशेखर ने इस संबध में किसी नदिकेश्वर का उल्लेख किया है और स्वय भरत ने भी अपने पूर्ववर्ती कुछ आर्या तथा अनुष्टुप छदों के उदाहरण देकर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि रस-परपरा पहले से चली आ रही है।

रस-परपरा और भरत

भरत का ग्रथ नाट्य शास्त्र पर है और उन्होंने रसों का विवेचन रूपक के लिये ही किया है, परतु परवर्त्ती आचार्यों ने रसों को श्रव्य काव्य के भी उपयुक्त समझकर उनकी मीमासा की। भरत ने शृगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स चार प्रधान और हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक चार उनसे उद्भूत, कुल आठ रसो की अवस्थिति स्वीकृत की। नाट्य शास्त्र में भरत ने शात रस को स्थान देने की उदारता दिखाई। रस की निष्पत्ति के लिए—'विभावानुभावव्यभिचारीसयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के सयोग को अनिवार्य बताया। भरत के बाद प्रायः सभी आचार्यों ने रस पर थोड़ा-बहुत विवेचन किया, पर आरभ में रस की महत्ता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

भामह ने काव्य के लिए अलकार या वक्रोक्ति को ही प्रधानता दी। रस के विषय में उन्होंने अपना निश्चित विचार व्यक्त नही किया। रसवत् की परिभाषा से इतना पता चलता है कि वे रसो से परिचित थे और साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि महाकाव्य मे सब रसों का उदाहरण देना चाहिए, परतु वे स्वय अलंकार के पीछे ही पड़े रहे।

भामह और रस

दडी ने भी रस पर बहुत ध्यान नहीं दिया, लेकिन इस ओर उन्होंने भामह से विशेष रुचि प्रदर्शित की। दडी ने रस को

दडी और रस

माधुर्य गुण में सम्मिलित कर लिया और इसके दो भेद किए—वाग्रस और वस्तुरस। वाग्रस से उनका अभिप्राय अंत्यनुप्रास से था और वस्तुरस से अग्राम्यत्व का। उन्होंने भरत के आठो रसों तथा उनके स्थायी भावो का विवेचन किया है, पर वह विवेचन रसो का स्वतत्र विवेचन नहीं कहा जा सकता।

वामन रसो के पहुँचे हुए विकास को लेकर आगे बढे, पर जमे नहीं। इतना उन्होने अवश्य किया कि रस को काव्य का नित्य गुण

वामन और रस

माना। अर्थगुण काति में रस की दीप्तिमयी अवस्थिति को अनिवार्य बताया। इस बात का संकेत भरत की कातिगुण की परिभाषा में तो है ही, उदारता-गुण के विवेचन से भी बहुत-कुछ इसका समर्थन हो सकता है। भामह और दडी से वामन ने इतनी ही विशेषता पहुँचाई कि उन दोनो की भाँति काव्य में रसो को अनित्य और निवार्य नहीं माना।

उद्भट ने भरत के आठ रसो के प्रति विशेष सहृदयता दिखाई और स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के वर्णन उनके

उद्भट और रस

अनुसार ही किए। इस संबध में यह बात-विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उद्भट ने आठ रसों के अतिरिक्त शात रस का प्रतिपादन भी किया। शात रस की उद्भावना का समस्त श्रेय यद्यपि उद्भट को नहीं दिया जा सकता तथापि इस रस के प्रथम प्रतिपादन का गौरव उन्हें देना ही पड़ेगा। कुछ

लोग यह मानते हैं कि उद्भट ने रस को काव्य की आत्मा कहा है, परतु ऐसी बात नहीं है। ध्वनिकार के पहले जितने रस-विवेचक हुए हैं सब की दृष्टि में रस केवल अलकार और रीति को उत्कर्ष पहुँचानेवाला साधन-मात्र ही रहा है। रस को काव्यवस्तु से अभिन्न मानने को वे तैयार नहीं हुए। तदनुसार उद्भट ने भी रस का स्वतंत्र विवेचन न कर अलकार को रसवत् बनाने का ध्येय ही अपने समुख रखा।

रुद्रट ने भरत के आठ रसों में शात और प्रेयस् जोड़कर उनकी सख्या दश बना दी। उन्होने साहित्य-शास्त्र में रस को स्थान दिया है, परतु रस को काव्य का तत्त्व मानने के सिद्धात के सवध में वे मौन रहे। सैद्धातिक रूप से वे अलकारवादी थे। सरस काव्य को उत्कृष्ट बताने पर भी वे रस को अलकार से अधिक महत्त्व देने की उदारता न दिखा सके। भरत के समय से रस से केवल नाट्य रस का ही बोध होता था। धीरे-धीरे इसी अनुकरण पर काव्य-रस की सृष्टि भी हुई, लेकिन उसकी आत्मा पर अलकार का बोझ पड़ा ही रहा।

रुद्रट और रस

रस की निष्पत्ति के सबध में आचार्यों मे बहुत मतभेद रहा है। सयोग और निष्पत्ति से भरत का क्या अभिप्राय था, इसकी व्याख्या केलिए अनेक सिद्धात खड़े किए गए। भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद, श्री शकुक का अनुमितिवाद, भट्ट नायक का भुक्तिवाद, अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद आदि कई सिद्धात रस के विवेचन केलिए स्थिर हुए। उस समय से अबतक रस का विवेचन स्वतत्र रूप से हो रहा है। इस विवेचन में शात रस भी सम्मिलित कर लिया गया है।

रस-निष्पत्ति के सिद्धांत

रस-विवेचन में पहले के जितने सिद्धांत थे उनकी अपूर्णता और एकांगिता की आलोचना कर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने मत की विशेषता की ओर आचार्यों का ध्यान आकर्षित किया। भट्ट नायक के रस-सिद्धांत पर विचार करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि रसास्वादन केलिए भावकत्व और भोगीकरण दो शक्तियों की आवश्यकता नहीं। रस-व्यंजना और उसके परिणाम आस्वाद में ही दोनों शक्तियाँ निहित हैं। भरत की उक्ति—काव्यार्थान् भावयतीति भावाः—में सब भावों का भावकत्व छिपा हुआ है। इसके बाद वे भोग या भोगीकरण की ओर मुड़ते हैं। उनके मतानुसार रस की प्रतीति के अनंतर ऐसी कोई मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है जिसे भोग की संज्ञा दी जा सके। वे समझे कि भोग से भट्ट नायक का तात्पर्य स्थायी भाव पर निर्भर रहनेवाले रस का आस्वाद ही है जिसकी प्रतीति व्यंजना से हो जाती है। अतः यह स्वाभाविक है कि उस प्रतीति को व्यंजना में ही संमिलित कर लिया जाय। उन्होंने अभिव्यक्ति से ही रस की प्रतीति बताई है। अभिव्यक्ति रस की नहीं होती, बल्कि उसके आस्वाद की। इसी प्रकार उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य के हृदय में वासना-रूप से स्थायी भाव निहित रहता है, किसी लौकिक कारण से (जिसे रस में विभाव कहते हैं) वह संस्कार-रूप भाव उद्दीप्त हो जाता है। दार्शनिक मत से यह बात सत्य ही है कि मनुष्य की आत्मा पर संस्कार का प्रभुत्व रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान से भी यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य की समस्त क्रियाएँ हृदय-स्थित भावों के अनुकूल ही होती हैं। भावों का ही स्थायी और विकसित रूप रस है।

अभिनवगुप्त और रस-विवेचन

इस प्रकार के रसास्वादन केलिये अभिनवगुप्त ने व्यजना-प्रणाली को ही उपयुक्त माना है। पिछले आचार्यों ने यह दिखलाया है

जगन्नाथ पडितराज और रस-सस्कार

कि व्यजना की व्याप्ति अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा, प्रत्यक्ष, अनुमान,स्मरण आदि में नहीं है। इसी अभिव्यक्तिवाद को जगन्नाथ पडितराज ने 'भग्नावरणा चित्' से अनुमोदित किया है। चित् पर अविद्या का जो आवरण पडा हुआ है उसको हटाने से ही रस का आस्वादन किया जा सकता है। रस कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कहीं बाहर से लाई गई हो। वेदातिक मोक्ष के विषय में जैसी धारणा है वैसी ही रस के सबध में भी मानी जाती है। आत्मा को ब्रह्म मानना कोई नई बात नहीं है। आत्मा पर पड़े हुए अविद्यावरण को हटाने पर जो सस्कार जागरित हो उठता है उसी से रसास्वादन की रुचि व्यजित होती है। इसीलिए रसास्वादन को ब्रह्मानद-सहोदर या ब्रह्मास्वादन कहा गया है।

रसास्वादन इसी प्रकार मनुष्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति से संबध रखता है। विना सत्त्वगुण की प्रधानता से रसानुभूति नहीं

रसास्वादन और त्रिगुणात्मक प्रकृति

हो सकती। चित्त पर जबतक रजस् और तमस् के विकार बने रहेंगे तबतक अस्वच्छ दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिंब की तरह रस का स्वरूप स्पष्ट नहीं होगा। राजसीवृत्तिवाले शृगार रस का और तामसिक वृत्तिवाले रौद्र रस का भी अनुभव विना सत्त्वगुण की प्रधानता से नहीं कर सकते। रजस् और तमस् पर जब सत्त्व का प्रभाव जम जाता है तब अ तःकरण में ज्ञान का उन्मेष होता है, सत्य का परिचय होने लगता है और चित्त-वृत्ति शांत हो जाती है। उस समय यह न

समझना चाहिये कि शरीर में रजस् और तमस् का बिलकुल अभाव ही हो गया है, बल्कि सत्त्व गुण की प्रधानता के कारण वे दब-से जाते हैं। यदि सत्त्व के बदले रजस् प्रबल हो जाय तो अतःकरण में वासना जागरित हो जाती है, लालसा बढने लगती है और हम अनेक कामों में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार तमस् की प्रबलता पर निद्रा, आलस्य, स्मृतिभ्रंश, क्रोध आदि उत्पन्न होते हैं। इन अवस्थाओं में रसास्वादन या रसानुभूति नहीं हो सकती। रस-मात्र की अनुभूति के लिए सत्त्वगुण-प्रधान हृदय की आवश्यकता है।

गुण-दोष

रस को स्पष्ट और व्यजक बनाने के लिये गुणो का विधान किया गया है। भरत ने गुणों के दश भेद किए हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, काति और समाधि। दडी ने भी प्रायः इसी प्रकार गुणों का विधान किया है, किंतु दोनों की परिभाषाओ में बहुत अतर पड़ जाता है। साथ ही भरत ने गुणो को दोषाभाव कहा है, पर दडी का मत इस सबध में स्पष्ट नहीं है। वामन ने यथार्थ ही गुणो को दोषाभाव-प्रसूत न मानकर अतिरिक्त धर्म माना है। दडी ने जो दश गुणों का उल्लेख किया है वे न तो बहुत स्पष्ट हैं और न तर्क-सम्मत ही। कुछ गुण शब्द-निर्देश करते हैं, कुछ अर्थ-निर्देश और कुछ दोनो। वामन की तरह उन्होने शब्द-गुण और अर्थ-गुण का विभेद नहीं किया। परिभाषाओं में भी बड़ा साम्य आ गया है। अर्थ-व्यक्ति का प्रसाद के साथ सरलता से निर्वाह हो सकता है। उदारता और काति की परिभाषाएँ स्पष्ट

गुणों पर आचार्यों के भिन्न भिन्न विचार

नहीं हैं। इसी तरह समाधि-गुण की परिभाषा रूपकालकार की परिभाषा से इतना साम्य रखती है कि दोनो का अन्तर बताना कुछ कठिन हो जाता है। दडी के अनुसार समाधि-गुण और रूपकालकार का अतर इस प्रकार है कि गुण में केवल धर्म या कार्य का दूसरी वस्तु पर आरोप किया जाता है, पर अलंकार में एक धर्म को दूसरी वस्तु में मान ही लिया जाता है। ऐसी प्रक्रिया लक्षणा पर निर्भर रहनेवाली आलकारिक व्यजना है और समाधि-गुण की यह परिभाषा वामन की दृष्टि में वक्रोक्ति का ही एक अंग है।

वामन और शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण

वामन ने परपरागत सख्या के अनुसार दश गुण ही गिनाए हैं, परंतु अन्य आचार्यों से भिन्न उन्होने दशो गुणो को अलग-अलग शब्द-गुण और अर्थ-गुण में विभाजित किया है। इस विभाजन से इतना लाभ तो अवश्य मानना पड़ेगा कि भरत और दडी के गुण-विवेचन में जो अस्पष्टता रह गई थी वह बहुत-कुछ दूर हो गई, लेकिन दूसरी ओर इससे व्यर्थ ही शब्द-गुण को अर्थ पर और अर्थ-गुण को शब्द पर आरोपित करने की उलझन भी बढ़ी। मम्मट, हेमचद्र, जगन्नाथ आदि परवर्त्ती आचार्यों ने इसका विरोध किया। स्वय वामन को भी इस ढग से गुणो का विभाजन करने की भूल का पता रहा होगा, लेकिन शायद परपरा से आई हुई सख्या को न्यून करने का साहस उन्हे नहीं हुआ। उसी के फल-स्वरूप गुणो का ऐसा विभाजन किया गया।

मम्मट और गुण

मम्मट तथा उनके अनुयायियो ने गुणो की सख्या में काफी कतर-ब्योंत कर मनोवैज्ञानिक प्रणाली पर केवल तीन प्रधान गुण—प्रसाद, ओज और माधुर्य—की अवस्थिति स्वीकृत की। आजकल ये ही तीन गुण सर्वमान्य हैं।

दोषो के सबध में भरत ने जो दश भेद किए हैं उन्हें भामह और दडी ने, केवल दश की परपरागत सख्या को छोड़ कर, नही अपनाया। दोनों ने अपने-अपने ढग से दोषो का उल्लेख किया है। भामह ने दश के अतिरिक्त एक ग्यारहवें दोष का भी नाम दिया है जो तर्क (प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टात) से सबध रखता है। भामह ने दो प्रकार के दोषों का उल्लेख किया है और कवियो को उनसे बचने का आदेश दिया हैं। दोनो प्रकार के दश-दश दोषो मे क्या पारस्परिक अतर है, इस सबध में उन्होने प्रकाश नहीं डाला, किंतु उनकी विषय-प्रतिपादन शैली से यह पता चल जाता है कि पिछले दश दोष काव्य की आत्मा से सबंध रखते हैं और पहले दश दोष थोडे-बहुत काव्य के वाह्यावरण से। दडी ने भामह के अनुकरण पर दश दोषो का विधान कर यह दिखलाने की चेष्टा की कि वे दोनों भरत के सप्रदाय से भिन्न हैं, परतु दंडी ने भामह के ग्यारहवें दोष का तीव्र विरोध किया।

भामह और दडी तथा दोष

अलंकार

काव्य की शोभा बढानेवाले धर्म को अलकार कहते हैं। प्रतिभाशाली कवि के वचन में स्वभावतः जो एक प्रकार का बाँकपन आ जाता है वही वस्तुतः अलकार है। साधारण वचन को, जिसमें न कोई वक्रता है और न विदग्धता ही, कई आचार्यों ने कवित्व-पूर्ण नहीं माना। इस प्रकार की स्वभावोक्ति या साधारण वचन के साथ पक्षपात करने पर भी दडी ने वक्रोक्ति से उसे भिन्न ही माना, परंतु भामह और कुंतल ने स्वभावोक्ति को अलकार मानना स्पष्ट रूप से अस्वीकृत किया। कवि

अलकार पर कुछ आचार्यों के विचार

की प्रतिभा में लोकातिक्रांतगोचरता का अभाव रहने से उसके काव्य में बक्रता नहीं रहेगी और तब वह काव्य ही न रह जायगा। दडी ने स्वभावोक्ति को अलकार मानकर, भामह के बक्रोक्तिवाले सिद्धात से असहमत होते हुए भी, उनकी इस बात में अपनी समति प्रकट की कि सब अलकारों में अतिशयोक्ति आवश्यक है।

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य-वस्तु की प्रकृति पर विचार न कर एक प्रधान विषय की अवहेलना की है। उनकी सारी प्रतिभा काव्य-वस्तु के विधान में ही खर्च हुई है। केवल स्वभावोक्ति और भाविका से यह आभास मिलता है कि वे इस समस्या से परिचित तो थे, पर उन्होंने इस ओर विशेष ध्यान देना किसी कारण उचित नहीं माना।

वक्रोक्ति में कोई वात कुछ घुमा-फिरा कर कही जाती है। रुद्रट ने इसे ऐसा ही कहा है। इसके बाद अनेक आचार्यों ने काकु और श्लेष से पुष्ट कर शब्दालकार में वक्रोक्ति का व्यवहार किया है, परतु वामन ने इसे शब्दालकार न मानकर, लक्षणा के ऊपर निर्भर रखकर, रूपकमय अर्थालकार में नियोजित किया। भामह ने, एक प्रकार दडी की तरह ही, वक्रोक्ति को समवाय-रूप से समस्त अलकारों की एक सज्ञा स्वीकृत किया। कुतल ने इसी आधार पर अपने अलकार-सवधी सिद्धात का प्रतिपादन किया। भामह ने बक्रोक्ति को अलकार-सर्वस्व मानकर भी कहीं उसकी स्पष्ट व्याख्या न की। उस समय के प्रचलित अलकारो मे जहाँ कहीं उन्हें बक्रता का अभाव दिखाई पड़ा वहीं अलकारो की सूची में कतर-ब्योंत करने लगे! इसी तरह उन्होंने हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलकारों की सूची से साफ-साफ उड़ा दिया!

अलकार में बक्रोक्ति की योजना

अलंकार-मात्र मे अतिशयोक्ति की व्यापकता मानने में भामह के साथ कुतल ने भी अपनी रुचि प्रदर्शित की और जैसा हम पहले

अलकार में अतिशयोक्ति की व्यापकता

लिख चुके हैं, दडी भी एक दूसरे ढग से प्रायः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे। इस सबध में आनन्दवर्द्धनाचार्य का कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है । उन्होने भी भामह के अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति-सबधी विचार का उल्लेख करते हुए समस्त अलकारो में अतिशयोक्ति की व्यापकता स्वीकृत की और उसका नामकरण भी 'सर्वालङ्कारसामान्यरूपम्' की सज्ञा से किया।

अलकारो की सख्या और प्रत्येक की परिभाषा के विषय में आरभ से ही बडा मतभेद रहा है । ज्यों-ज्यो साहित्य-शास्त्र पर

अलकारों की सख्या और परिभाषा

विचार होता गया त्यो-त्यो अलकारो की सख्या और जटिलता भी बढती ही गई। जो अलंकार काव्य की शोभा केलिए साधन-रूप से प्रयुक्त होते थे वे ही परपरा चल पड़ने के कारण काव्य के साध्य बन गए।

अलंकारों की सख्या बढ जाने और प्रत्येक आचार्य के मतामत के कारण परिभाषाएँ बड़ी अस्पष्ट होने लगीं। उद्भट की तुल्ययोगिता मम्मट की तुल्ययोगिता से मिलती है, पर भामह का इसी नाम का अलकार मम्मट के दीपक के साथ बहुत-कुछ समानता रखता है। दृष्टात और काव्यलिंग अलकारो का, जिन्हें काव्य दृष्टात तथा काव्यहेतु भी कहते हैं, भामह ने निर्देश ही नहीं किया, लेकिन उद्भट ने सर्व प्रथम उनकी सोदाहरण परिभाषाएँ लिखी। साथ ही पुराने आचार्यों मे एक उद्भट ही ऐसे हैं जिन्होंने यमक का उल्लेख नहीं किया, फिर भामह ने सहोक्ति, उपमा और हेतु में

श्लेष का अस्तित्व स्वीकार किया और दंडी ने श्लेष की सहायता से सब अलकारो की सुदरता बढने की बात कहकर उसकी व्यापकता बहुत बढा दी। रुय्यक के मतानुसार श्लेष का शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष-सबधी विवाद उद्भट के समय से ही चला है। भामह और भट्टि ने दो या अधिक अलकारों की ससृष्टि मानी है, लेकिन उद्भट ने ऐसा उल्लेख न कर सकर के चार भेदों का ही विवेचन किया है। इस विषय में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मम्मट और रुय्यक ने ही सब अलकारो का चयन कर उन्हें एक अनुक्रम से सजाया है।

अनेक अलकारों से एक ही वस्तु का बोध

अलकारवाद की प्रधानता यहाँ तक बढी कि थोडा-थोड़ा अंतर मानकर और कहीं-कहीं बाल की खाल निकाल कर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सदेह, अपह्नुति, अनन्वय आदि सैकड़ों अलकारो से एक ही वस्तु का बोध करानें की परिपाटी चल पड़ी। किसी युवती के मुख के प्रसन्न सौंदर्य का बोध कराने केलिए साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने अलकारों की इतनी बड़ी भीड़ एकत्र की है—

(१) उसका मुख चद्रमा के समान है। (उपमा)

(२) चद्रमा उसके मुख के समान है। (प्रतीप)

(३) उसका चंद्रमुख। (रूपक)

(४) यह उसका मुख है या चद्रमा ? (सदेह)

(५) यह चद्रमा है, उसका मुख नहीं। (अपह्नुति)

(६) चद्रमा उसके मुख के समान है और उसका मुख चंद्रमा के समान है। (उपमेयोपमा)

(७) उसका मुख उसके मुख की तरह ही है। (अनन्वय)
(८) चद्रमा को देखकर उसके मुख की याद आती है। (स्मरण)
(९) उसको चद्रमा समझकर चकोर उसके मुख की ओर उड़ा। (भ्रातिमान)
(१०) यह चंद्रमा है, यह कमल है, बस, चकोर और भ्रमर उसके मुख की ओर उड़ते हैं। (उल्लेख)
(११) यह मानो चद्रमा ही है (उत्प्रेक्षा)
(१२) उसके मुखचद्र की शोभा कुछ और ही है। (अतिशयोक्ति)
(१३) चद्रमा और कमल उसके मुख के कारण विलीन हुए। (तुल्ययोगिता)
(१४) उसका मुख और चद्रमा रात्रि में आनद मनाते हैं। (दीपक)
(१५) उसका मुख सदा खिला रहता है, पर चंद्रमा केवल रात्रि में ही सुशोभित होता है। (व्यतिरेक)
(१६) उसका मुख पृथ्वी पर सुशोभित है, चद्रमा आकाश में देदीप्यमान है। (दृष्टात)
(१७) चद्रमा आकाश में विचरण करता है और पृथ्वी पर उसका मुख सुशोभित होता है। (प्रतिवस्तूपमा)
(१८) उसके मुख में चद्रमा का सौंदर्य है। (निदर्शना)
(१९) उसके मुख के समुख चद्रमा मलिन है। (अप्रस्तुत प्रशसा)
(२०) उसके चद्रमुख से वासना उत्तेजित हो जाती है। (परिणाम)
(२१) उसका मुख बड़ी-बड़ी काली आँखो और मुसकान की आभा से शोभित है। (समासोक्ति)

इस प्रकार एक ही मुख के बोध केलिए अनेक अलकारों का उपयोग किया जा सकता है। फिर एक-एक अलकार के भेद-उपभेद

जाय तो एक अच्छा तमाशा हो सकता है।
है उनकी परिभाषाओ के सबध में सभी आचार्य
हैं; अतः यह सभव है कि ऊपर दिए गए उदाहरणों में
श-बहुत मतभेद की गुँजाइश हो।

रीति

रीति की परपरा

ऐतिहासिक दृष्टि से भामह के बाद दडी का स्थान आता है और वामन जो दडी के परवर्त्ती रहे, भामह के टीकाकार उद्भट के सम-सामयिक थे। साहित्य-शास्त्र में जिस रीतिवाद का प्रतिपादन दडी और वामन ने किया उसकी परपरा सभवतः भामह से भी पुरानी थी। उन्होंने ही इस बात की ओर सकेत किया है कि जिस रीति का विवेचन वे कर रहे हैं वह किसी-न-किसी रूप में उनके पहले से ही परपरा में वर्त्तमान थी। दंडी के ऊपर अलकार-शास्त्र का बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा था और रीति के तो वे उन्नायक ही थे। अतः उनका स्थान भामह के अलंकार-सिद्धात तथा वामन के रीति-सिद्धांत के बीच मे ही पड़ता है। सैद्धातिक रूप से यह स्पष्ट है कि वे वामन के पोषक थे।

वामन और रीति-सिद्धांत

रीतिवाद के विकास के साथ ही अलकारवाद का पराभव झलकने लगा। रीतिवादी वामन ने गुण को काव्य में नित्य बताया और और अलकार की अनित्यता बताकर यह कहा था कि गुण से जो सौंदर्य काव्य में पहले से ही आ जाता है उसी का वह सवर्द्धन करता है। वामन ने दडी की अपेक्षा साहित्य-शास्त्र में अपनी विशेष योग्यता का परिचय दिया है। उद्भट ने काश्मीर में जिस समय काव्य मे अलकार-सिद्धात का

निर्माण किया उसी समय वामन स्पष्टतः दडी के आधार पर अपने रीति-सिद्धात का विधान कर रहे थे। रीतिवाद का सबसे अच्छा प्रतिनिधि वामन ही माने जाते हैं। जो बातें दडी में अस्पष्ट और विशृ खल हैं वे ही वामन में सुबोध और नियमित हो गई हैं। ध्वनिकार, आनदवर्द्धनाचार्य आदि के पहले साहित्य-शास्त्र का प्रौढ निर्माता बनने का गौरव भी उन्हीं को प्राप्त है। वामन के पूर्ववर्त्ती विद्वानों ने केवल काव्य-शरीर के सबध में ही विचार-विमर्श कर अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया, परतु पहली बार वामन ने ही काव्य की आत्मा पर ध्यान दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से—रीति-रात्मा काव्यस्य-रीति को काव्य की आत्मा माना है। शब्द और अर्थ से काव्य-शरीर का निर्माण कर रीति से आत्मा की प्रतिष्ठा की। सक्षेप में, उन्होने रीति की परिभाषा विशिष्ट पद-रचना बताई और उसके वैदर्भी, गौड़ी और पाचाली नाम से तीन विभाग किए। वैदर्भी में दशो गुण, गौड़ी मे ओज तथा काति और पाचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण बताए। इन्हीं तीन रीतियो पर काव्य का विध.न होता है। इस सबध में यह जान लेना आवश्यक है कि तीनों रीतियो के नाम क्रमशः विदर्भ, गौड़ और पंचाल प्रांत के निवासियो की रचना-शैली के अनुसार रखे गए। वामन ने रीति के तत्त्व होने के कारण काव्य मे गुणों की अनिवार्यता पर बड़ा जोर दिया। अतएव रीति को गुणात्मा भी कहा गया है। रुद्रट के अनुसार रीति का संबध-शब्द-विन्यास के साथ है और उन्होने उसे शब्द की समासवती वृत्ति कहा है। रीति का संबध शब्द-विन्यास के साथ उचित ही बताया जाता है। काव्य की आत्मा मानने के संबध में आचार्यों में बहुत मतभेद है।

ध्वनि

अन्य साहित्य-शास्त्रियो की तरह ध्वनिकार का परिचय भी अ धकार में छिपा हुआ है। ध्वनिकार के सवध में जो कुछ जानकारी है वह आनदवर्द्धनाचार्य की कृपा का ही फल है। इतना स्पष्ट है कि ध्वनिकार आनदवर्द्धनाचार्य से बहुत पूर्ववर्त्ती नहीं थे। 'ध्वन्यालोक' में जिस ध्वनि-सप्रादय का प्रतिपादन किया गया है वह भी उस समय केलिए बिलकुल नवीन सिद्धात नहीं था। सिद्धात तो बहुत थोड़े नवीन होते हैं, उनकी प्रतिपादन-शैली भी नवीन होती है। ध्वन्यालोक के आरभ में ही ध्वनिकार ने—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्याह समासनात् पूर्वाः—ध्वनि को काव्य की आत्मा कहकर पूर्ववर्ती आचार्यों की परिचित परपरा की ओर सकेत किया है। इस विषय में इतना विचारणीय है कि जिस प्रकार रस के स्वरूप पर थोड़ा-बहुत-वाद-विवाद होता आया उसी प्रकार ध्वनि की चर्चा भी क्यों न उठी। इस सबध मे निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। व्यजना, व्यग्य अर्थ या ध्वनि शब्दों का प्रयोग भी साप्रदायिक अर्थों में पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने नहीं किया है। इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि ध्वनिकार ने शब्द का जो शक्ति-विभाग किया है उसका आभास-मात्र ही उन्हें पिछली रचनाओं में मिला होगा। उस समय और इस समय भी जनता में इतनी रूढि-प्रियता है कि अकस्मात् किसी नई बात को मानने केलिए कोई प्रस्तुत नही होता। नवीन सिद्धात में प्राचीन परपरा का थोडा-सा योग होने से ही उसके बहुत अनुयायी मिल सकने की सभावना रहती है। शायद ध्वनिकार और उनके चलाए हुए संप्रदाय के विषय में भी यही तर्क उपयुक्त हो।

ध्वनि की परपरा

वैयाकरणो ने व्यजना को स्वीकृत नहीं १ किया, किंतु दार्शनिको केलिए यह कोई नई बात न थी। स्वयं आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि के इस शग की अपेक्षा कर कहा है कि वास्तव मे ध्वनि ऐसी कोई रहस्यमय वस्तु नहीं है जिसकी व्याख्या न हो सके, प्रत्युत यह सहज ही समझ में आनेवाली है। ध्वनिकार को रस, अलकार, रीति आदि का पूरा परिचय था, क्योकि ध्वन्यालोक में दो प्रधान लक्ष्य रखे गये हैं—ध्वनि-सिद्धात की स्थापना और रस, रीति, अलकार, गुण आदि की मीमासा कर ध्वनि के साथ उनकी योजना। इस प्रकार की पाडित्य-पूर्ण प्रतिपादन-शैली का प्रभाव ऐसा पड़ा कि अनेक परवर्त्ती आचार्यों ने ध्वनि-सप्रदाय का लोहा मान लिया।

ध्वनि के लक्ष्य

सर्व प्रथम ध्वनिकार ने शब्दो के तीन विभाग अभिधा, लक्षणा और व्यजना नाम से किए। शब्द-विभाग की यह प्रणाली कुछ तो वैयाकरणों, नैयायिकों और मीमासको के अनुकूल पड़ी और कुछ प्रतिकूल। अभिधा से मुख्य या शक्य अर्थ लिया गया। अभिधा की असमर्थता पर रूढि और प्रयोजन दिखाने केलिए लक्षणा स्थिर हुई। लक्षणा को अभिधा से अलग मानने केलिए बडा विरोध किया गया। वाच्य अर्थ के बिना लक्षणा का कोई व्यापार सिद्ध नहीं हो सकता; अतएव लक्षणा की दूसरी सज्ञा 'अभिधापूच्छभूता' हुई। भट्ट नायक अभिधा से लक्षणा को भिन्न मानने केलिए प्रस्तुत नही हुए। लक्षणा को भिन्न

शब्द विभाग— अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना

१ प्राचीन वैयाकरण व्यंजना को नही मानते, परतु नवीन वैयाकरण व्यजना को स्वीकृत करते हैं। कहा जाता है कि स्फोट-सिद्धांत से ही ध्वनि का आभास मिला है।

मानने केलिए तीन कारण उपस्थित किए गए—(१) मुख्य अर्थ की बाधा, (२) मुख्य अर्थ का संबध, (३) रूढि या प्रयोजन। इन तीनो कारणो की उपस्थिति से लक्षणा होती है। व्यजना से किसी नये अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता, वल्कि जो वस्तु पहले से ही वर्त्तमान रहती है उसी का उससे प्रतिपादन होता है।

ध्वनि और रस की एकात्मता

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने यह दिखलाया कि ध्वनिवादियों की व्यक्ति या व्यजना किस प्रकार रस-परिपाक केलिए उपयुक्त हो सकती है, और इस प्रकार उन्होने रस और ध्वनि की एकात्मता प्रतिपादित करने की कोशिश की। अभिनव ने रस के महत्त्व को इतना बढाया कि ध्वनिकार और आनदवर्द्धनाचार्य से भी कुछ आगे बढ़कर उन्होंने रस को काव्य का एक-मात्र तत्त्व या सौंदर्याधार बताया। परवर्त्ती आचार्यों पर इस मत का प्रभाव भी खूब पडा। वस्तु-ध्वनि और अलकार-ध्वनि की उपेक्षा कर उन्होने—रसेनैव सर्व जीवति काव्यम्—रस से ही काव्य अनुप्राणित होता है, कहकर रस-ध्वनि की प्रधानता का स्वर ऊँचा किया। वस्तु और अलंकार को रस में समिलित कर लिया। कविराज विश्वनाथ के ऊपर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होने 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' रसात्मक वाक्य को ही काव्य मान लिया।

ध्वनि के मुख्य दो भेद

वाच्यार्थ की भाँति व्यंग्यार्थ द्वारा सर्वत्र कथन नहीं हो सकता। व्यग्यार्थ की प्रधानता को ही ध्वनि कहते हैं। वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ जहाँ जिसमें विशेष चमत्कार लक्षित होता है वहाँ उसी की प्रधानता होती है। ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला।

जिस ध्वनि मे वाच्यार्थ का बोध होता है, किंतु उसका उपयोग नहीं होता, उसे लक्षणामूला ध्वनि कहते हैं। इसका दूसरा नाम **लक्षणामूला ध्वनि** अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी है। इसमें गूढ़ व्यग्या प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसके भी दो भेद हैं—अर्थातर-सक्रमित वाच्य ध्वनि और अत्यत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। जिसमें वाच्यार्थ छोड़ा न गया हो और ऊपर से भी उसमें कुछ जोड़ा गया हो उसे अर्थातर-सक्रमित वाच्य ध्वनि कहते हैं। लक्षणा में उसी को उपादान लक्षणा कहते हैं। भेद केवल इतना ही है कि यह ध्वनि में है और वह लक्षणा में। कोयल कोयल ही है और कौवा कौवा ही। यहाँ दूसरे कोयल शब्द में मधुर शब्द बोलने वाले और दूसरे कौवा शब्द में कर्कश बोलने वाले पक्षियों की ध्वनि है। मधुरता और कर्कशता में अर्थ सक्रमित होकर गया है। जहाँ वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार होता है वहाँ अत्यत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि कहते हैं। इसमें प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा होती है। 'क्या भरा सरोवर है कि लोग लोट-लोट कर नहा रहे हैं।' यहाँ 'भरा'-शब्द का विपरीत अर्थ 'खाली' लिया गया है। यही व्यंग्य है।

अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं—असलक्ष्यक्रम व्यंग्य और सलक्ष्यक्रम व्यग्य। क्रम से यहाँ यह तात्पर्य है कि वाच्यार्थ के पीछे **अभिधामूला ध्वनि** व्यंग्यार्थ हो, पर जहाँ यह क्रम लक्षित न हो वहाँ असलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है। क्रम का होना तो निश्चित ही है, पर वह इतना सूक्ष्म होता है कि किसी को उसका पता अच्छी तरह लगता ही नहीं। इसमें रस, भाव, रसाभाव, भावाभास, भाव-शाति, भावोदय, भावसधि और भावशवलता की व्यजना होती है। 'उसकी त्योरी चढ़ गई, आँखें लाल-लाल हो गईं'—इस वाक्य से

रौद्ररस की व्यजना होती है। शब्द और अर्थ की प्रतीति का क्रम बहुत ही सूक्ष्म है। संलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि से वस्तु और अलकारादि की व्यजना होती है। इसके तीन भेद हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव, उभयशक्त्युद्भव। इनके उपरात गुणीभूत व्यग्यादि का विवेचन है।

वक्रोक्ति

वक्रोक्तिजीवितकार कुतल ने ध्वनि-सिद्धात का खडन करना लक्ष्य न बनाकर, भामह की वक्रोक्ति के आधार पर, अपना मत निश्चित

कुतल और वक्रोक्ति

किया। ऐसा मालूम होता है, ध्वनिवाद की व्यजना को उन्होंने काव्य में उपयोगी माना और ध्वनि तथा रस के प्रायः सभी मुख्य विचार उन्होंने अपने वक्रोक्ति-सप्रदाय में समन्वित कर लिए। कुतल का प्रधान अभिप्राय यह है कि वक्रोक्ति काव्य का प्राण है। वक्रोक्ति से वे काव्य में ऐसे विचित्र विन्यास-क्रम की स्थापना करना उचित समझते हैं जो अभिव्यजना के साधारण इतिवृत्तात्मक ढंग से भिन्न हो। इस प्रकार वैचित्र्य या विच्छित्ति की प्रधानता मानकर उन्होंने स्वाभाविक और कलात्मक अभिव्यजना में भेद बताया है। कुतल के मतानुसार अलकृत शब्द और अर्थ से ही काव्य-रचना हो सकती है और इस केलिए वक्रोक्ति ही उपयुक्त है।

अनतर कुतल ने बताया है कि कवि की प्रतिभा और कौशल से वक्रोक्ति आनद देती है। इसी कारण इसे 'वैदग्ध्यभगी भणिति'

कविव्यापार के छः विभाग

कहते हैं। उन्होने काव्य केलिए कल्पना या कवि-व्यापार का महत्त्व भी बताया, परतु उसकी व्याख्या नहीं की। सभवतः यह इस लिए कि वह स्वभावतः व्याख्या-योग्य

नहीं है, लेकिन थोड़ा विश्लेषण कर उन्होंने कवि-व्यापार के वर्ण, पद-पूर्वार्द्ध, पद-परार्द्ध, वाक्य, प्रकरण और प्रबध नामक छः विभाग बताए। उन्होने कवि-व्यापार-वक्रता से उपर्युक्त छः विभागों की परिभाषा, उदाहरणादि में ही अपनी रचना का प्रायः सर्वांश, आरभ की प्रस्तावना को छोड़कर, अर्पित किया १।

इस संक्षिप्त परिचय से यह पता लग जाता है कि कुतल को वैसा काव्य कदापि मान्य न था जिसमें बक्रता-हीन स्वभावोक्ति रही हो। भामह के सकेत पर उन्होने काव्य मे 'लोकातिक्रातगोचरता' को आवश्यक माना। इसी में अतिशयोक्ति भी समिलित है। इसके विना बक्रोक्ति-वैचित्र्य में चमत्कार नहीं आ सकता। इसी लोकोत्तर चमत्कार के पास पहुँच कर कुतल रस-सिद्धात को मानने केलिए बाध्य-से हो जाते हैं। इस लोकोत्तर वैचित्र्य को उन्होने तद्विदाह्लाद का तादात्म्य स्थिर किया है।

कुतल और रस-सिद्धांत

वक्रोक्ति काव्यजीवितम् को भामह के आलकारिक सिद्धात का ही परिष्कृत और सुगठित नवीन रूप कह सकते हैं। ध्वनिवादियो ने अलकार को वाग्विकल्प कह कर उपेक्षा की है या जहाँ ध्वनि में रस की अपेक्षा अलकार व्यग्य हो वहाँ उसे गुणीभूत व्यग्य समझ कर मध्यम काव्य की श्रेणी में धकेल दिया है। इसके

बक्रोक्ति में अलंकार और रस का स्थान

१. बक्रोक्तिजीवितकार के सबंध में इधर-उधर उद्धृत अवतरणों को छोड़कर कुछ जानकारी नहीं थी। कुछ लोग उनके ग्रथ के अस्तित्व को मानने केलिए भी तैयार न थे। सौभाग्य से उनके ग्रंथ की एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है और वह कलकत्ते से डॉ० सुशीलकुमार दे, एम० ए०, के सपादकत्व मे प्रकाशित हो गई है।

विपरीत कुतल ने वैचित्र्य, विच्छिति या वक्रत्व के रूप से वक्रोक्ति मे जो अलकार आ जायँ उन सबका पक्ष लिया है। मम्मट ने कहा है, जहाँ रस व्यग्य न हो वहाँ अलकार केवल उक्ति-वैचित्र्य में ही परिणत होगा।

वक्रोक्तिजीवितकार के सिद्धात का विश्लेषण कर देखने पर कई ऐसी बातो का पता लगता है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि कुतल ने ध्वनि-सप्रदाय से कितनी बातें उधार ली हैं। ध्वनि का वह भेद जिसे अर्थातर-सक्रमित वाच्य ध्वनि कहते हैं, वक्रोक्ति की रूढि-वैचित्र्य बक्रता में समिलित है और कुछ भाव जो अत्यत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, उपचार-वक्रता में मिला दिया गया है। उपचार की व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि कुंतल ने उसका व्यवहार दो वस्तुओ की थोड़ी-बहुत समानता से भी किया है। इस प्रकार रूपक की भाँति भी उसका आरोप हो सकता है। विस्तृत मीमासा करने से लक्षणा के साथ उसका सबध स्थापित होता है और ध्वनिवादियो के अनुसार वह लक्षणामूला ध्वनि में परिगणित हो सकता है। ध्वनिवादियो के शब्दे़ा में कुतल की गणना वैसे सप्रदाय मे हो सकती है जो ध्वनि के अस्तित्व को अस्वीकृत तो नहीं करता, किंतु उसे भक्त या लक्षणा के ऊपर निर्भर समझता है।

वक्रोक्ति और ध्वनि-संप्रदाय

रस-ध्वनि के विषय में जो असलक्ष्य क्रम व्यग्य के अतर्गत है, यह स्पष्ट है कि कुतल ने रस को वक्रोक्ति का एक तत्त्व-मात्र मान लिया है, उसकी अनिवार्यता स्वीकृत नहीं की। वाक्य-वक्रता की व्याख्या करते हुए उन्होने यह बताया है कि किस प्रकार उपयुक्त रस की प्रतिष्ठा से काव्य में सौंदर्य

वक्रोक्ति और रस-ध्वनि

आ सकता है। इसी प्रसग में थोड़े विस्तार के साथ उन्होंने रसवत्, प्रेयस् आदि की समीक्षा की है जिनमें पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकार की प्रधानता मानते हुए रस को तत्त्व-रूप से स्वीकृत किया था। अलकार-पद्धति मे रस के प्रवेश केलिए रसवत् आदि ने ही मार्ग प्रशस्त किया। ध्वनिवादियो ने रसवत् को गुणीभूत व्यग्य में समिलित कर उसके क्षेत्र को असलक्ष्यक्रमध्वनि से भिन्न बताया। इसका कारण यह उपस्थित किया गया कि जब काव्य में रस प्रधान होगा तब वह अलकार्य रहेगा, किंतु व्यजित अर्थ से जब वह गौण हो जायगा तब वह अलंकार में परिगणित हो सकता है।

रसवत् का विवेचन

कुतल ने रसवत् को वस्तु-वक्रता में रखा है जिसके सहज और आहार्य वस्तु नाम से दो रूप हो सकते हैं। रस का उद्रेक आहार्य वस्तु मे ही किया गया है। यह कवि-शक्ति-व्युत्पत्ति-परिपाक-प्रौढ की सज्ञा से वर्णित है। कुतल ने भामह, दडी आदि की रसवत् की परिभाषाओ की समीक्षा की और स्थिर किया कि वह न तो दर्शित स्पष्ट शृगारादि रस है, न रस-सश्रय है और न रस-प्रेशल ही है, वल्कि वह रस के तुल्य वर्त्तमान है। अतएव वह अलकार नहीं, अलकार्य है। प्रबध-वक्रता में कुंतल ने रस की स्वतत्रता को बहुत अवकाश दिया है।

महिमभट्ट का व्यक्ति-विवेक

'व्यक्ति-विवेक'—ध्वनिकार और आनंदवर्द्धनाचार्य के सिद्धात के खडन के लिए ही यह ग्रंथ लिखा गया मालूम होता है, क्योकि इससे किसी सिद्धांत-विशेष का प्रतिपादन नहीं होता। ध्वन्यालोक द्वारा व्यवस्थित व्यक्ति या व्यजना को महिमभट्ट ने अनुमान प्रमाणित किया है। ध्वनि की परिभाषा उनके मतानुसार अनुमान मे ही घटित होती है।

ध्वन्यालोक में दिए गए अधिकाश उदाहरणों को उन्होने अनुमान के उदाहरण ही वताए हैं। संक्षेप में, उन्होने ध्वनि को काव्यानुमिति कहा है।

सब से प्रधान वात इसमें यही है कि महिमभट्ट ने शब्द के दो ही भेद—वाच्य और अनुमेय—स्वीकृत किए। लक्ष्य तथा व्यग्य की

शब्द के दो भेद—वाच्य और अनुमेय

स्वतत्र सत्ता न स्वीकृत कर दोनो को अनुमेय में ही शामिल कर दिया। समीक्षा, तर्क, विद्वत्ता की दृष्टि से महिमभट्ट का व्यक्ति-विवेक अपने ढग का एक ही ग्रथ है, परतु इससे किसी सिद्धात का प्रतिपादन न होने के कारण हमारे लिए भी यह प्रतिपाद्य नहीं है।

काव्य में अभिव्यंजनावाद

पहला अध्याय

सहजानुभूति का तत्त्व

प्राक्कथन

हमारे साहित्य-शास्त्र के आचार्यों में भले ही—काव्य क्या है?—इस विपय पर वाद-विवाद होता रहा हो और काव्य को साहित्य से भिन्न मानकर भले ही कोई ध्वनि को, कोई अलकार को, कोई वक्रोक्ति को और कोई रस को काव्य की आत्मा मानता हो, किंतु काव्य को साहित्य का अग मानकर इस विषय में प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं कि काव्य का प्रधान लक्ष्य प्रभविष्णुता (Impression) है। काव्य का विषय चाहे वास्तविक जीवन का उल्लास हो, चाहे काल्पनिक जीवन का विषाद, वह प्रत्येक दशा मे मानव जीवन के क्रिया-कलाप से ही सबद्ध रहेगा। उसमें व्यक्ति की व्यंजना रहेगी, जाति या समुदाय की नही। काव्य से कल्पना में मूर्त्त-भावना की सृष्टि होती है जो सहज में ही मानस-पट पर अकित हो जाती है। बुद्धि के समुख विचार-विवेचन उपस्थित करने से काव्य का सौंदर्य विनष्ट हो जाता है। कल्पना का मूर्त्त-विधान निश्चय ही किसी व्यक्ति-विशेष का ही रहेगा १, क्योंकि

(१ न्याय के सिद्धांतानुसार शब्द द्वारा जब कभी किसी अर्थ मे बुद्धि जाती है तब प्रथमतः वह जाति का ही बोध कराती है और पीछे किसी विशेप का। काव्य में इस सिद्धांत से सर्वत्र काम नही चल सकता। न्याय में भापा के संकेत-पक्ष से काम चल जाता है, किंतु काव्य में भापा के प्रत्यक्षीकरण-पक्ष के बिना बिंब-ग्रहण हो ही नहीं सकता।)

मनुष्य की कल्पना-शक्ति एक बार ही किसी बड़े समुदाय का विश्लेषणात्मक रीति से बिंब-ग्रहण नहीं कर सकती। यदि ऐसा करने का प्रयत्न किया भी जाय तो मनुष्य की सारी शक्ति, समस्त तेज उसी उद्योग में समाप्त हो जायगा और काव्यानुभूति का आनंद उसे प्राप्त न हो सकेगा। व्यक्ति-विशेष की भाव-व्यंजना करते समय काव्य में सामान्य धर्म के आधार पर ही चरित्र-निर्माण होना चाहिए। विशेष व्यक्ति के लिए विशेष धर्म की व्यंजना हो सकती है, परंतु उसमें पाठक या श्रोता को सरलता से नहीं, वरन् कठिनता से बुद्धि के सहारे रसानुभूति होगी। काव्य केलिए सहजानुभूति (Intuition) ही सर्वस्व है, उसमें बुद्धि का व्यायाम हो जाने पर वह काव्यकार और पाठक दोनो केलिए एक समस्या उपस्थित कर देता है। जिस काव्य में रस-संचार की प्रकृत क्षमता नहीं वह भारतीय दृष्टि से ही नहीं, यूरोपीय दृष्टि से भी हेय है।

क्रोचे के मतानुसार ज्ञान के दो खंड

अभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे के अनुसार समस्त मानव ज्ञान दो खंडों मे विभक्त किए जा सकते हैं। एक कल्पना-जनित और दूसरा तर्क-जनित। पहले खंड के ज्ञान का आधार कल्पना है और दूसरे का विचार। कल्पना से हम जगत् के नाना रूपों और क्रियाओं के उन प्रभावों का जो वे हमारी ज्ञानेंद्रियों की सहायता से निरंतर हमारे मस्तिष्क पर डालते रहते हैं, एक विशिष्ट भावों के अनुकूल चित्र अपने अंतःकरण में उपस्थित करते हैं। इसके विपरीत तर्क से हम उन प्रभावों की पारस्परिक तुलना करते, उनके गुणों की समता तथा विषमता के अनुसार उनका वर्गीकरण करते और फिर उनके शासक नियमों का उद्घाटन करते हैं। इस प्रकार क्रोचे ने

एक से सहजानुभूति (Intuition) और दूसरे से विचार (Concept) के निर्माण की विधियाँ बतलाई हैं १।

लॉक ने २ ज्ञान के दो भेद अलग ही बताए हैं। पहला संवेदन (Sensation) और दूसरा बिंब (Reflection)। उन्होने इन

लॉक के मतानुसार ज्ञान के दो भेद

दोनो को आंतरिक और बाह्य बोध भी कहा है, क्योकि एक से, उनके मतानुतार, अपने मस्तिष्क की क्रियाओं का पता चलता है और दूसरे से बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है।

बर्कले ने ज्ञान को सवेदनात्मक बतलाया है। सवेदनावाद का प्रथम प्रतिपादक बेकन माने जाते हैं, यद्यपि उनके पहले भी सवेदना

बर्कले और बेकन के विचार

का बहुत-कुछ रूप स्थिर हो गया था। बेकन ने कल्पना और विचार-शक्ति से उत्पन्न ज्ञान को केवल ज्ञानाभास कहा है।

अरिस्टॉटल के अनुयायियों ने सवेदना के साथ ही कल्पना को भी सबद्ध किया है ३। आँखों के समुख से दृश्य वस्तु के हट जाने

अरिस्टॉटलके अनुयायियों का मत

पर, और आँखें बद कर लेने के बाद भी, उसकी मूर्त्ति हमारे मस्तिष्क में बनी रहती है, यद्यपि वह मूर्त्ति प्रत्यक्षसे अवश्य ही कुछ धुँधली हो जाती है। इसी कारण कल्पना को म्रियमाण बोध (Decaying Sense) भी कहा जा सकता है ४।

१. Benedetto Croce · Æsthetic, Ch.i

२ Lockes' Essays, Bk ii, Ch. i

३ Prescott : The Poetic Mind, p. 141.

४ Hobbes . Leviathan, pt. i ch ii

आस्वादन करती है तब उसके स्वाभाविक या कृत्रिम धर्म से हमारी आत्मा में जो एक प्रकार का विकार उत्पन्न होता है उसे रस या स्वाद कहते हैं। किसी वस्तु के गर्भ से बाहर निकल कर जब सूक्ष्म परमाणु हमारी नाक के मज्जातंतु से टकरा कर आत्मा तक पहुँचते हैं तब हमें उसकी गध मिलती है। इसी तरह शेष इद्रियो के व्यापार भी हैं। ज्ञानेंद्रियों से बाह्य जगत् का स्थूल ज्ञान होता है, परतु जो ज्ञान हमें होता है वह हमारी ज्ञानेंद्रियों को प्राप्त नही। इसी कारण वे 'ज्ञाता' नहीं कहलातीं। वे अंतस् को बाह्य जगत् से परिचय करानेवाली परिचारिकाएँ-मात्र हैं। मनुष्य और पशु में इतनी दूर तक बहुत-कुछ समानता माननी पड़ती है। इससे आगे मनुष्य में जो मनस्तत्त्व है वह पशु में नहीं। पशु को ज्ञानेंद्रिय से प्रत्येक सस्कार का ज्ञान होता है, लेकिन अनेकता की एकता का बोध उसे नहीं हो सकता।

ज्ञानेंद्रियाँ ज्ञाता नहीं कहलातीं

मन में केवल कल्पना करने की शक्ति है, निर्णय करने की क्षमता नही। इसी से निश्चय करने केलिए बुद्धितत्त्व की आवश्यकता मानी जाती है। 'मनसस्तु परा बुद्धिः'—मन से बुद्धि श्रेष्ठतर है। बुद्धितत्त्व व्यवसायात्मक होने के कारण परिणामवादी होता है, परतु मन प्रवर्त्तक इद्रिय होने के कारण व्याकरणात्मक है। मन से भिन्न रखकर बुद्धितत्त्व की स्वतत्र सत्ता को स्वीकृत करने में कई अड़चनें हैं। यदि मन किसी इद्रिय की प्रेरणा ही न करे तो बुद्धि को निर्णय करने का सामान कहाँ से मिलेगा! सकल्प, विकल्प, इच्छा, उत्साह, करुणा, क्रोध आदि मन के धर्म हैं। मन की सहायता के विना बुद्धि केवल अपनी सत्ता के बल पर कुछ काम करने में समर्थ नहीं है। मनोवेग उत्पन्न होनेपर

मन और बुद्धि के कार्य

ही काम करने की प्रवृत्ति होती है। जिसके मन में किसी प्रकार की इच्छा, उत्साह या वासना ही नहीं है वह केवल बुद्धि के आश्रय से कुछ नहीं कर सकता। इसी प्रकार बुद्धि से असहयोग कर मन कोई काम शुद्ध रूप से नहीं कर सकता। करुणा और क्रोध का अवसर निश्चित करना बुद्धि का ही धर्म है। जिस व्यक्ति पर हम अपना क्रोध व्यजित कर रहे हैं, संभव है, वह हमारी करुणा का पात्र हो। बुद्धि से पृथक् होकर मनोवृत्तियाँ अधी हो जाती हैं १।

अब पुनः क्रोचे की सहजानुभूति और विचार पर प्रकाश डालना आवश्यक है। सहजानुभूति कला का बोध-पक्ष है और विचार तर्क का बोध-पक्ष। मन में कल्पना करने की शक्ति है और बुद्धि में विचार करने की क्षमता। सहजानुभूति से मन में अनायास वस्तु-विशेष का चित्र अंकित हो जाता है। इसमें श्रम या गूढ कल्पना की अपेक्षा नहीं की जाती। साधारणतः हमारी कल्पना में घोड़े की धड़ में ऊँट की लम्बी गर्दन दिखाई नहीं देती। ऐसा चित्र उपस्थित करने केलिए कल्पना को विचार का पल्ला पकड़ना पड़ जाता है। यदि विचार के साथ उसका सबध न भी किया जाय तो भी उस चित्र को अकित करने केलिए कल्पना को कुछ गूढ़ बनाना पड़ेगा। ऐसा करने पर वह सहजानुभूति का यथार्थ चित्र ही न रहेगा। उदाहरण केलिए यह वर्णन लीजिए—'भैया! अपनी सरला को आठ दिन हुए एक बच्चा हुआ है। मुझे वह बहुत अच्छा लगता है। छोटा-सा सफेद-सफेद! मन करता है, उसे दिन-रात प्यार करती रहूँ! मैं उसे पुचकारती हूँ, बुलाती हूँ तो वह डर कर

सहजानुभूति कला का बोध-पक्ष

उदाहरण

१ बालगगाधर तिलकः गीता-रहस्य, पृ० १३२

देखने लगता है, कान खड़े कर लेता है। कैसा पागल है ! मैं कहती हूॅ, नहीं, मैं तुझे पीटूॅगी नहीं, प्यार करूॅगी, तेरे साथ खेलूॅगी। वह जैसे समझ जाता है और धीरे-धीरे मेरे पास आ जाता है। मैं उसका मुन्नी-मुन्नी मुॅह अपनी गोद में ले लेती हूॅ।'—यह उक्ति एक छोटी बालिका की है। उसने अपने भाई के पास चिट्ठी लिखकर अपनी गाय के नवजात बछड़े का कितना सुदर, स्वाभाविक और स्नेहपूर्ण वर्णन किया है ! इस वर्णन से बछड़े का जो चित्र मन में अंकित होता है उसको यदि इस रूप में रख दें कि 'बछड़े सुदर होते हैं' तो सहजानुभूति और विचार का प्रकृत भेद स्पष्ट हो जाता है। इन दोनों में से पहले वर्णन में बालिका के मन को आकर्षित करने वाले एक विशेष बछड़े का व्यजना-पूर्ण लचीले शब्दों में भावमय चित्रण है और दूसरी उक्ति में तत्सबधी सब ज्ञात तथ्यों के आधार पर निर्मित एक सामान्य नियम का सीधे वाचक शब्दों में कथन। पाठक के चित्त पर पहले वर्णन का जैसा प्रभाव पडता है वैसा दूसरी उक्ति का नहीं। कहना नहीं होगा, ये दोनो अतःकरण की एक ही क्रिया के परिणाम नहीं। दोनो के प्रभाव में भी इसी कारण बहुत अतर है। जहॉ एक वर्णन हमारे अतःकरण में एक विशेष बछडे का स्वाभाविक तथा मनोरम चित्र उपस्थित कर हमारी सौंदर्य-भावना को जागरित करता है वहॉ दूसरी उक्ति हमारे पूर्व-संचित ज्ञान-भडार में एक और तथ्य बढाकर ही रह जाती है। जहॉ एक अपनी विमोहक भाव-भगिमा से हमारे अतःकरण के कोमल-भाव का स्पर्श करता है वहॉ दूसरी हमारे मस्तिष्क के एक कोने में अपना स्थान ग्रहण करती है—किसी अवसर पर काम आने केलिए। एक से हम

सहजानुभूति और विचार का प्रकृत भेद

बिंव-ग्रहण करते हैं और दूसरी से अर्थ-ग्रहण-मात्र । एक से सौंदर्य-भावना जागरित होती है और दूसरी से ज्ञान-वृद्धि । इन्हीं दो शक्तियों के परिणाम-स्वरूप क्रमशः कला और विज्ञान का निर्माण होता है ।

बिंब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण

विचार से सहजानुभूति की स्वतंत्रता या पृथकता के संबंध में इतना ही बतलाना शायद पर्याप्त न हो, अतः इस दृष्टि से भी इसके पार्थक्य पर विचार करना चाहिए । बहुधा सहजानुभूति को बोध या यथार्थ विषय-ग्रहण के अर्थ में ले लिया जाता है । वस्तुतः सहजानुभूति एक प्रकार का बोध या विषय-ग्रहण ही है । कमरे में बैठकर मैं कुछ लिख रहा हूँ । सामने टेबुल, कागज, कलम हैं । दीवारो पर चित्र टँगे हैं । सामने की खिडकी से आम के पेड़ झलक रहे हैं । उन पर पक्षियो का कलरव हो रहा है । एक दल आता तो दूसरा उड़कर कहीं दूर चला जाता है । यह एक प्रत्यक्ष दृश्य है और इसका बोध या विचार सहजानुभूति है, किंतु इस दृश्य के अतिरिक्त मेरी कल्पना में जो चित्र कभी-कभी उपस्थित हो जाते हैं, जैसे नदी के वक्षःस्थल पर तरगें उठती और विलीन होती हैं । मैं एक नाव में बैठकर तिरता हुआ जा रहा हूँ । तट की रेतों पर कुछ लड़के खेल रहे हैं । कुछ पनिहारिनें घड़ों को शिर पर रखे तट की ओर आ रही हैं और कुछ जा रही हैं । यह मानसिक दृश्य भी सहजानुभूति है । वास्तविक तथा काल्पनिक का भेद, सहजानुभूति की प्रकृति के सबध में, बाह्य या गौण है । प्रत्यक्ष या परोक्ष का प्रश्न यहाँ विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है । यदि हम एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें जिसने जीवन में पहली बार ही सहजानुभूति की हो तो यह मालूम होगा

वास्तविक तथा काल्पनिक सहजानुभूति

कि उसे वस्तुतः यथार्थ की ही सहजानुभूति हुई होगी या जिस विषय को उसने ग्रहण किया होगा वह वास्तविक तथा प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कुछ दूसरा नहीं हो सकता। विकसित मानसिक शक्तिवाले ही अप्रत्यक्ष की सहजानुभूति कर सकते हैं।

प्रायः सब काव्यों में सहजानुभूति और विचार मिले हुए रहते हैं। भेद इतना ही है कि जो विचार इस प्रकार सहजानुभूति में

सहजानुभूति और विचार का समन्वय

आकर मिलते हैं उनको अपनी स्वतत्र सत्ता का पूर्णतः परित्याग कर उसका ही एक अंग बनकर रहना पड़ता है, तिल-तडुल की तरह नहीं, दूध-पानी की भाँति मिलकर। जो विचार कभी पृथक् सत्तावाले थे उनको सहजानुभूति का एक तत्त्व-मात्र बन जाना पड़ता है।

उदाहरण

दृष्टात केलिए किसी नाटक के एक पात्र के मुँह से निकला हुआ सिद्धात या वचन वास्तव में किसी सिद्धात का निरूपण नहीं करता, प्रत्युत उस वचन से उस पात्र के चरित्र-द्योतन का ही कार्य होता है। अभिज्ञान शाकुंतलम् के चतुर्थ अक में जहाँ वन-विहगिनी शकुतला के पति-गृह-गमन का दृश्य है वहाँ कण्व ऋषि स्नेहवाष्पगद्गद होकर कहते हैं—

'यास्यत्यद्य शकुतलेति हृदय सस्पृष्टमुत्कठया।
कंठः स्तंभितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिताजड़ंदर्शनम् ॥
वैक्लव्य मम तावदीदृशमिद स्नेहादरण्यौकसः।
पीड्यन्ते गृहिणः कथनु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवै' ॥

आश्रम से शकुतला के विदा होते समय अरण्यवासी तपस्वी कण्व का हृदय भी स्नेह से व्यथित हो गया, फिर गृहस्थ की कन्या

जब पितृ-गृह से सुसराल केलिए बिछुड़ती है तब उस पिता को कितनी वेदना होती होगी, यह सहज ही गम्य है। इस श्लोक से और चाहे जिन बातों का प्रतिपादन होता हो, पर सबसे मुख्य और स्पष्ट यह है कि कण्व ऋषि का हृदय बड़ा ही कोमल और भाव-प्रवण है। इससे कण्व के ही शील-स्वभाव पर प्रकाश पडता है। शुद्ध काव्य या नाटक की उक्ति किसी सिद्धात के रूप मे नहीं होती।

सहजानुभूति की विशेषता

सहजानुभूति या सहजोपलब्ध ज्ञान व्यक्ति की अतर्वृत्तियों पर निर्भर करता है। उसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता अपेक्षित नहीं। दूसरे की ऑखे उसे देख नहीं सकतीं, (अपने अतः) चक्षु से ही उसके स्वरूप का बोध किया जा सकता है। सहजानुभूति बौद्धिक ज्ञान से स्वतत्र है। यह सभव है कि कुछ सहजानुभूतियों में तर्क सिद्ध ज्ञान अंतर्भूत रहें, किंतु ऐसी बहुत-सी सहजानुभूतियॉ हैं जिनमे बौद्धिक अंतर्भावना के समिश्रण की अनिवार्यता लक्षित नहीं होती। जब कोई कलाकार ज्योत्स्ना-धवलित रात्रि की सुषमा से विमुग्ध होता है, हरी-भरी पर्वत-श्रेणियों पर चलते-फिरते मेघ-खडो को देखकर जब उसका मन-मयूर मत्त होकर नाच उठता है, विहाग की तान सुनकर जब उसके हृदय की रागिणी विकल हो उठती है तब ऐसी सहजानुभूतियों में बौद्धिक या तर्क-सिद्ध ज्ञान की छाया भी नहीं झलकती! ऐसे अनेक उदाहरण बताए जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा सके कि सभ्य जीवन की सहजानुभूतियॉ तर्क या विचार से निरपेक्ष नहीं रह सकतीं। इसमें कुछ तथ्य अवश्य है, पर विचारणीय विषय यह है कि वस्तुतः क्या ऐसे तर्क या विचार अपने पूर्व स्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकते हैं! कदापि नहीं। सहजानुभूति में मिलते ही किसी

तर्क या विचार की स्वतत्र प्रतिष्ठा नहीं रहती। वह सहजानुभूति में मिलकर निःशेष हो जाता है। जो पहले एक विचार था वह सहजानुभूति-मात्र रह जाता है। काव्य में उल्लिखित विचार को हम विचार के रूप में ग्रहण नहीं करते, प्रत्युत चरित्र या पात्र की सत्ता के रूप में ही ग्रहण करते हैं।

सहजानुभूति और सैद्धांतिक उक्तियाँ

नीरस-से-नीरस वैज्ञानिक निबध में सहजानुभूति मिलेगी और सरस-से-सरस काव्य में सैद्धातिक उक्तियों का अभाव न होगा, परतु एक का प्रभाव एक बड़े विचार का ही प्रभाव होगा और दूसरे का स्वतः पूर्ण सहजानुभूति का। इनके सबध को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि यह दो पदों की एक श्रेणी है जिसमें पहला पद सहजानुभूति है और दूसरा पद विचार। पहला पद दूसरे के विना रह सकता है, किंतु काव्य में दूसरे का अस्तित्व, उसकी स्थिति, उसका प्रसंग सर्वथा पहले पद पर अवलंबित है। ऐसी सहजानुभूति या अभिव्यंजना हो सकती है जिसमें किसी गूढ विचार का लेश न हो। जैसे, किसी ग्राम्यगीत की सरल और सरस स्वर-लहरी की सहजानुभूति, मृदग के मद मृदु घोष की सहजानुभूति, विस्तृत वसुधातल पर छिटकी हुई शरच्चद्र की तरल ज्योत्स्ना की सहजानुभूति। विना सहजानुभूति में परिवर्त्तित हुए हम किसी विचार का अनुभव नहीं कर सकते। जैसे, 'हाथी' का बोध एक ज्ञान है।

अनुभव केलिए सहजानुभूति की अपेक्षा

इस ज्ञान की प्रतिष्ठा उसी समय हुई होगी जब ठीक वैसा ही स्वरूप रखनेवाले अनेक पशुओं द्वारा प्रक्षिप्त प्रभावो के अपरोक्षानुभवों की तुलना कर उनका एक पृथक् वर्ग निश्चित किया गया होगा और अब हम जब कभी इस शब्द—

हाथी—को सुनकर इसके अभिधेय का अपने भीतर अनुभव—अर्थ-ग्रहण-मात्र नहीं—करना चाहते हैं तब वह एक विशेष प्राणी की सहजानुभूति के रूप में ही हमारे सामने आता है ।

सहजानुभूति की तीन प्रक्रियाएँ

उस बालिका की उक्ति को यदि फिर एक बार हम मीमांसा कर देखें तो यह प्रश्न अनायास उपस्थित होगा कि उसका अतस् क्या है । प्रत्येक सहजानुभूति की तीन प्रक्रियाएँ हैं—वस्तु, आकृति और अभिव्यजना । कोई भी वस्तु हमारी सौंदर्य-भावना को तबतक जागरित नहीं कर सकती जब तक उसकी कोई आकृति न स्थिर हो जाय । उस भय-कपित नवजात बछड़े के 'मुन्नी-मुन्नी मुँह' का जो भाव-रजित सर्वांगपूर्ण बिंब उस सरल बालिका के हृदय में बैठ गया था वह चिट्ठी लिखते समय भी उसे प्रत्यक्ष-सा भासित हुआ था । क्रोचे ने सौंदर्य-भावना को आकृति-प्रधान माना है । उन्होंने अभिव्यजनावाद के प्रतिपादन में वस्तु पर जो विचार प्रकट किए हैं उनसे भारत के ही नहीं, यूरोप के भी अनेक समीक्षक सहमत नहीं हैं । यह प्रकट सत्य है कि जितना महत्त्व क्रोचे ने आकृति (Form) को दिया है[1] उतना वस्तु को नहीं । किंतु, इतना करने पर भी उन्होंने वस्तु की उपेक्षा नहीं की, उसे समुचित महत्त्व दिया है[2] । वस्तु का भी अपना मूल्य है । उसके बिना आकृति होगी किस बात की ! वस्तु के बिना एक

वस्तु का महत्त्व

अनुभूति से दूसरी अनुभूति मे कुछ भिन्नता ही न होगी और सच तो यह है कि अनुभूति का आधार भी वस्तु को छोड़कर और क्या हो सकता है । वस्तु के आधार पर

१ The aesthetic fact is form, and nothing but form.
—Benedetto Croce

२ Benedetto Croce: Æsthetic, pp. 9-10.

ही हमारी आध्यात्मिक सत्ता को आकृति मिलती है। आकृति में हमारी आध्यात्मिक सत्ता का तत्त्व समिलित रहने के कारण एक प्रकार की स्थिरता रहती है, क्योंकि वस्तु तो सदा परिवर्त्तनशील है। वस्तु की अवस्थिति से ही हमारी आध्यात्मिक क्रिया अपनी भावनात्मकता को छोड़कर मिश्रित और यथार्थ रूप में आती है १। वस्तु के अभाव में आकृति का अस्तित्व ही सभव नहीं। वस्तु से निरपेक्ष रहने की क्षमता आकृति में नहीं है। काव्य में विंब-ग्रहण कराना ही कलाकार का मुख्य लक्ष्य है और यह आकृति में ही सभव है। मूल वस्तु में रसोद्बोधन की शक्ति नहीं रहती। यदि वस्तु में ही रस-सचार की शक्ति रहती तो एक ही कथानक पर रचे गए काव्यों में एक ही ढग की रसानुभूति होती; पर ऐसा नहीं होता। वस्तु और आकृति में अन्योन्याश्रय-सबध है। वस्तु से आकृति में इतनी ही विशेषता है कि वह रस-सचार के बहुत अधिक समीप है।

आकृति की विशेषता

संवेदन और सहजानुभूति का संबंध भी विचारणीय है। शुद्ध संवेदन एक आकृति-हीन द्रव्य है उसका कोई चित्र हमारे मानस में कल्पित नहीं हो सकता। द्रव्य अपने प्रत्याहार की स्थिति में निश्चेष्ट रहता है। हम उसका अनुभव करते हैं, पर उसे अभिव्यजित नहीं कर सकते। द्रव्य या वस्तु के विना मानव ज्ञान या किसी प्रकार की क्रियाशीलता भी संभव नहीं, किंतु केवल वस्तु या भाव से जीवन में पाश-

वस्तु और आकृति का अंतर

1. Without matter, however our spiritual activity would not leave its abstraction to become concrete and real, this or that spiritual content, this or that definite intuition —Benedetto Croce· Æsthetic. p 6

विक प्रकृति ही व्यक्त हो सकती है, आध्यात्मिकता नहीं जो सच्ची मानवता है। कभी-कभी हम अपने अंतःकरण की बातों को समझने की, उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, पर व्यर्थ! कुछ स्पष्ट नहीं हो सकता! यही वह क्षण है जब हम द्रव्य या वस्तु तथा आकृति के स्पष्ट भेद को समझ सकते हैं। ये दोनों वस्तुतः दो नहीं, एक ही हैं—एक अंतस् है, दूसरा बाह्य। एक से दूसरे का विरोध नहीं होता, प्रत्युत अंतस् बाह्य के साथ तादात्म्य ही होना चाहता है। वस्तु या भाव को जब इच्छित आकृति प्राप्त हो जाती है तब वह स्वतः अभिव्यजित हो जाती है। भाव के विना हमारी आध्यात्मिक प्रक्रिया अपनी सूक्ष्मता का परित्याग कर मूर्त्त तथा वास्तविक कार्य-शक्ति के रूप में व्यक्त नहीं हो सकती।

भाव-पक्ष और कल्पना-पक्ष

भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य के भाव-पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसी भाव-पक्ष की भित्ति पर रसवाद का जो निर्माण-कार्य हुआ है वह विश्व-साहित्य में अपने ढंग की एक ही वस्तु है। पश्चिमीय साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य में कल्पना को विधायक अवयव माना है और इसकी महत्ता का स्वर इतना ऊँचा किया कि भाव बिलकुल ही गौण हो गया। भारतीय साहित्य-पद्धति मे कल्पना-पक्ष छूटा नहीं है, वह विभाव और अनुभाव में समिलित कर लिया गया है। क्रोचे ने कल्पना के बोध-पक्ष पर ही विशेष ध्यान दिया, भावों की सत्ता को उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

आचार्य शुक्ल के विचार

'इटलीनिवासी क्रोचे ने अपने 'अभिव्यजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वय

प्रकाश ज्ञान (Intuition)—प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञान-मात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतत्र और स्वतः पूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गए हैं। भावों या मनोविकारो तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर, न चाहने पर भी अभिव्यजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना वे पीछा नहीं छुड़ा सके हैं १।

स्वप्न का रहस्य

बाह्य जगत् में हम जो-कुछ देखते हैं प्राय. उसी तरह या उससे मिलता-जुलता दृश्य स्वप्न में भी देखते हैं। अधिकांशतः हम अपनी रागात्मिका वृत्तियो से प्रेरित दृश्य ही देखते हैं, अपने परिचित व्यक्तियों के क्रिया-कलाप के ही दर्शन करते हैं, पर कभी-कभी इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति भी देख पड़ते हैं जिनकी हमें कोई याद नहीं रहती या जिनसे हमारा कोई परिचय नहीं। यह एक सर्व-विदित बात है कि हम नवीन और तीव्र मनोवेग-जनित अनुभवो को प्रायः बहुत कम स्वप्न में देखते हैं, किंतु साधारण तथा तुच्छ घटनाएँ नई होने पर भी, और महत्त्वपूर्ण बातें पुरानी होने पर, सहज ही स्वप्न में दिखाई पड़ती हैं २। स्वप्न के

१. आचार्य रामचंद्र शुक्लः साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्य-वाद—(द्विवेदी-अभिनंदन ग्रन्थ) पृ० १५५-५६

2. Havelock Ellis The World of Dreams p. 173.

तत्त्व साधारण उपकरणों से ही अपने अस्तित्व की रक्षा करते हैं। जिस बात को हम कभी कुछ महत्त्व भी नहीं देते वही बड़े डीलडौल के साथ स्वप्न में चित्रित हो जाती है और हृदय की कोई बद्धमूल चिंता या कोई मनोरजक घटना चित्रित ही नहीं होती १। मनुष्य जन्मजात स्रष्टा है, स्वप्न में भी हमारी सृष्टि-क्रिया बन्द नहीं रहती।

सहजानुभूति और स्वप्न में भेद

इतने पर भी इसे सहजानुभूति या अभिव्यजना नहीं कह सकते। स्वप्न में हमारी वृत्तियाँ निष्क्रिय रहती हैं और सहजानुभूति या अभिव्यजना केलिए यह आवश्यक है कि वह सक्रिय रहकर हमारी आध्यात्मिक सत्ता के साथ मिल जाय। स्वप्न को, इसी कारण, कला में स्थान नहीं मिल सकता २। फिर, इसकी गणना सहजानुभूति में भी सभव नहीं।

हमारी वासनाएँ जो अतृप्त रहती हैं और दृश्य जगत् में जिनकी पूर्त्ति सभव नहीं, उनकी पूर्त्ति बहुधा स्वप्न में हो जाती है।

स्वप्न का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

जो व्यक्ति जितना कल्पनाशील होता है वह स्वप्न में भी वैसे ही अनोखे दृश्य देखा करता है। स्वप्न का अन्य कोई प्रभाव चाहे हमारे चित्त पर न पड़े, परतु उसके मनोवैज्ञानिक प्रभाव से हम अपनी रक्षा नहीं कर सकते।

1. Hildebrandt, quoted by Frend in his Interpretations of Dreams, p 13

२. भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के संबंध में यह कहा जाता है कि वे स्वप्न में भी काव्य-रचना करते थे। स्वर्गीय बाबू शिवनदन सहाय ने, उनके जीवन-चरित में, इसके उदाहरण भी दिए हैं।

जब हम स्वप्न में किसी भयानक दृश्य को देखते हैं तब नींद टूटने पर यह जानते देर नहीं लगती कि हमारी स्वप्नगत कल्पना के डरावने जीव निरे नकली हैं, यद्यपि उनसे उत्पन्न भय एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अनुभव है १।

सहजानुभूति और अनुभूतिवाद

सहजानुभूति को अनुभूतिवाद से सबद्ध करने में हमें विशेष आपत्ति नहीं मालूम पड़ती। दोनों को हम एक भी नहीं मान सकते, किंतु दोनो में जो समानता है उसी से सबध किया जा सकता है। अनुभूति में विचार के रूप में हमारा ज्ञान सचित रहता है और सहजानुभूति में उसी ज्ञान का विशेष चित्र कल्पना में स्पष्ट हो जाता है। सहजानुभूति को क्रोचे ने ज्ञान का एक खड माना है, परंतु इसे ज्ञान के बदले उसका एक आवश्यक प्रतिबंध मानना ही समुचित है, क्योंकि स्वतः इससे ज्ञान की प्रतिष्ठा नही हो सकती २। बाह्य जगत् में हम जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं उन्हीं की अनुभूति होती है। अनुभूतिवादी केलिए हमारी चेतनता में जो कुछ वर्त्तमान है वही हमारे ज्ञान की वस्तु है। जिस वस्तु का अस्तित्व हमारी चेतनता में नहीं

१ When we awake we know atonce that the terrifying creatures of our imagination are purely fictitious, though the fear to which they gave rise was a genuine psychological experience.

—Jastrow . The Subconscious, p 226.

२ Prof N O. Lossky : The Intuitive Basis of knowledge (Preface)

है उसकी सत्ता अन्यत्र भी अस्वीकृत की जा सकती है। जिस वस्तु को हमने कभी देखा नहीं, जो कभी हमारी कल्पना में आई नहीं उसका ज्ञान मस्तिष्क की प्रचंड शक्ति से भी प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान का उपादान दृश्य जगत् से ही मिलता है, इससे भिन्न ज्ञान की सृष्टि संभव नहीं। अनुभूतिवादी केलिए बाह्य जगत् का विकार ही ज्ञान का आधार है, किंतु इसमें भी तर्क केलिए गुंजाइश है। बाह्य जगत् के बोध का अनुभव कर्त्ता के ऊपर तज्जनित प्रभाव से होता है; अतः कर्त्ता को बाह्य जगत् का नहीं, बल्कि उसके प्रभाव का अनुभव होता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि बाह्य जगत् का ज्ञान बहुधा प्रभाव के ऊपर निर्भर है। यदि प्रभाव को केवल मस्तिष्क की ज्ञान-संबंधी प्रतिक्रिया ही मानें तो विशेष जानकारी रहने पर भी उसके आकस्मिक संबंध का पता लगाना कठिन है।

स्वप्नगत वैचित्र्य के कारण

एक बार पुनः विषय को स्पष्ट करने केलिए स्वप्न की मीमांसा करना उचित है। कभी-कभी हम स्वप्न में अद्भुत और कल्पनातीत दृश्य देखते हैं, किंतु वस्तु-विश्लेषण से पता चलेगा कि स्वप्नगत दृश्य का बीज हमारे मस्तिष्क में पहले से ही प्रस्तुत था। स्वप्न के आकाश में हम खूब उड़ते हैं, विदेश या देश के अपरिचित प्रांत में भ्रमण करते हैं। इनमें ऐसी कोई बात नहीं जिसे हम बाह्य जगत् से अयुक्त पाते हैं। पक्षियों को उड़ते देखकर स्वभावतः हम अपने उड़ने की कल्पना करते हैं, अपरिचित्त प्रांत में भ्रमण करने का कारण भी असंभव नहीं है। कहाँ क्या है, यह हम जाने रहते हैं, भ्रमण तो यदा-कदा करते ही रहते हैं। दोनों के समन्वय से एक नवीन कल्पना की सृष्टि

की जगह भी नहीं मिल सकती। इसी प्रकार ऐसे अनेक वर्णन हैं जिनके चित्र अंकित करने के पहले कल्पना में उपस्थित ही नहीं किए गए। भारतीय साहित्य की पद्धति के अनुसार भी देखा जाय तो वैसे चित्र विशुद्ध भावो की उपज नहीं। यदि वे चित्र कल्पना में उदित होकर कवियो की आध्यात्मिक सत्ता के अंग बन जाते तो वे निश्चय ही बड़े प्रभावोत्पादक सिद्ध होते। सच्चे काव्य केलिए सवेदन और प्रभाव को तो सहजानुभूति में परिणत करना ही पड़ता है, पहले की प्रस्तुत शब्द-योजना के विचार को भी फिर से प्रभाव के रूप में रखकर उसका अंग बना लेना पड़ता है। काव्य और काव्याभास का यही भेद है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि हमारे पास सहजानुभूतियाँ तो बहुत हैं, पर हम उन्हें अंकित नहीं कर सकते। ऐसे कथन में सत्य का लेश भी नहीं रहता। यदि व्यक्त करने को कुछ है तो चाहे जैसे हो वह निश्चय ही व्यक्त होगा। वैसे कहनेवाले का, सभव है, निरीक्षण विशद हो, वे उसे अनुभव भी करते हों, किंतु उनके प्रति अत्यंत सहानुभूति रखते हुए भी कहना पड़ता है कि उनकी सहजानुभूति नहीं होती। इस भ्रम का कारण यही है कि वे सहजानुभूति के सबध में इद्रिय-बोध और सवेदन का आवश्यकता से अधिक मूल्य आँकते हैं। यह मानते हैं कि इद्रिय-बोध और सवेदन के विना सहजानुभूति नहीं हो सकती। विना कुछ देखे सुने और विना उस के प्रति कुछ रति हुए अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, किंतु सहजानुभूति के अभाव में भी इद्रिय-बोध और सवेदन का अस्तित्व सभव है। हमें अपने प्रिय-से-प्रिय आत्मीय जन की भी उतनी सहजानुभूति नहीं रहती जितनी हम

सहजानुभूति और इंद्रिय-बोध तथा सवेदन

समझते हैं। हमारे अंतःकरण में उसकी आकृति के कुछ अत्यत वाह्य तत्त्व ही रहते हैं जिनसे हमारी इद्रियाँ परिचित रहती हैं, पर उनको यदि चित्रपट पर अंकित किया जाय तो अधिक-से-अधिक एक व्यग्य चित्र प्रस्तुत हो सकेगा। सुदर चित्र तो तभी बनेगा जब हम अपनी कल्पना से उन चित्र-रेखाओं को भावों के अनुकूल रगों से रँग देंगे। इद्रिय-बोध और सवेदन को सहजानुभूति में परिणत करने की योग्यता को ही प्रतिभा, शक्ति और न जानें किन-किन सज्ञाओ से पुकारा गया है। बोध के बाद ही बोधि की अवस्था आती है। जहाँ मस्तिष्क की शक्ति का अंत हो जाता है वहीं से प्रतिभा का आरभ होता है १। सहजानुभूति का आरभ भी ठीक सवेदन के बाद हो जाता है सही, पर दोनों के बीच कोई आम रास्ता नहीं है। जिन लोगों ने कलाकारों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है उनका भी कहना है कि एक बार किसी व्यक्ति को देख चुकने पर जब किसी कलाकार ने उसकी एक सच्ची सहजानुभूति अपने अतःकरण में उपस्थित करने का प्रयास किया तब उसे मालूम हुआ कि जो इद्रिय-बोध—प्रत्यक्ष ज्ञान—उस समय इतना सजीव, इतना स्पष्ट था वह वास्तव में कुछ नहीं था। जिसका चित्र अकित करना रहता है वह व्यक्ति कलाकार केलिए एक धुँधले ससार की तरह रहता है, उसको अपनी प्रतिभा की किरणों से ही प्रकाशित करना पड़ता है।

सहजानुभूति एक बार आ जाने पर अभिव्यंजना का होना तो

१ Sir L Stephen Hours in a Library. Vol. III p. 5.

आवश्यक है ही, इतना भी नहीं हो सकता कि सहजानुभूति पहले और अभिव्यजना पीछे आए। वे दोनों साथ-साथ आती हैं। जो पहले आता है वह सवेदन, भाव या और कुछ होता है। प्रत्येक व्यक्ति वाहर से प्रभावित होकर अपने भीतर एक प्रकाश का अनुभव करता है, किंतु उसी सीमा तक जहाँ तक वस्तु को आकृति देने की क्षमता है। इस प्रकार भाव और प्रभाव शब्दो के रूप में आत्मा के गूढ़ प्रदेश से विचार-शक्ति की स्पष्टता में प्रकट होते हैं। इस एक-जातीय क्रिया में सहजानुभूति को अभिव्यजना से भिन्न बताना असभव है। एक के साथ दूसरी एक ही समय में उत्पन्न होती है, क्योंकि दोनो दो, नहीं बल्कि एक ही हैं १। यह भले ही हो सकता है कि हम उस अभिव्यजना को लेखनी अथवा तूलिका लेकर अंकित करने न बैठें।

सहजानुभूति और अभिव्यजना की एकात्मता

इस प्रकार सहजानुभूति का विचार तथा सवेदन के साथ सबध और उसकी निरकुश स्वतत्रता का निरूपण हो गया। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि केवल इद्रिय-बोध—प्रत्यक्ष दर्शन—की ही सहजानुभूति हो सकती है, लेकिन वे लोग यह भूल जाते हैं कि ऐसी सहजानुभूति भी होती है जिसमें उक्त इद्रिय-बोध की सर्वथा भिन्न और अवास्तविक योजना प्रस्तुत होती है। यथार्थ और यथार्थवाद में अंतर है। यथार्थ सत्य को कहते हैं, किंतु

सहजानुभूति के लिए यथार्थ और अयथार्थ आधार

१ Sentiments or inpressions pass by means of words from the obscure region of the Soul into the Clarity of the Contemplative sprit In this cognative process it is impossible to distinguish intuition from expression The one is produced with the other at the same instance because, they are not two, but one —Benedetto Croce Aesthetic p 14

यथार्थवाद सत्य की सभावना के आधार पर स्थित रहता है। जैसे, हम अपने बचपन की बातें भूल गए हैं, परंतु हम फिर से अपने को एक छोटे बालक के रूप में देखते हैं—दरवाजे के सामने हरी-हरी घासों पर लकड़ी का घोड़ा बनाकर हम उछल-कूद रहे हैं और बाहर से दादाजी घर आते हैं। उनको दरवाजे पर आते देखते ही हम अपना लकड़ी का घोड़ा पटक देते हैं और उनके हाथ बढ़ाते ही हम उछल कर उनकी गोद में पहुँच कर लबी-लंबी साँसें भरने लगते हैं। संभव है, इससे भी अवास्तविक सहजानुभूति का चित्र उपस्थित हो और हम किसी आशावादी राष्ट्रीय कवि के साथ वह दिन देखें जब भारतवर्ष की यह शस्यश्यामला धरणी हमारी होगी। यदि हम विकासवाद को भूल कर मानव मस्तिष्क की उस अवस्था में कल्पना करें जब उसे पहले पहल सहजानुभूति हुई होगी तब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह वास्तविक इंद्रिय-बोध के आधार पर ही हुई होगी। हमारा यथार्थता का ज्ञान वास्तविक और काल्पनिक, प्रत्यक्ष और परोक्ष चित्रों के एक अत्यंत बाह्य भेद पर निर्भर है। उनमें कोई प्राकृतिक भेद नहीं। इद्रिय-बोध में यथार्थ और अयथार्थ का भेद मानने से अवश्य ही कुछ लाभ है, पर सहजानुभूति की प्रकृति—उसका स्वरूप—इससे परे है। वह न यथार्थ है और न अयथार्थ। जहाँ सब कुछ प्रत्यक्ष की भाँति प्रतीत होता है वहाँ विशेष रूप से यथार्थ कुछ भी नहीं होता। यथार्थ अयथार्थ का भेद ही नहीं रह जाता। यदि ऐसा न होता तो इतिहास को छाड़कर काव्य की कोई रचना ही नहीं हो सकती।

दूसरा अध्याय

अभिव्यंजना और कला

प्रभाव की अभिव्यक्ति

बाह्य जगत् के दृश्यों को देखकर हमारे चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उससे प्रभावित होकर हम अपने अंतर्जगत में कल्पना की सहायता से उसको व्यंजित करते हैं। मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने भाव के आधिक्य—प्रभाव—को बाहर प्रकाशित करने केलिए सदा लालायित रहता है। जिस वस्तु से वह स्वयं प्रभावित है उसी से वह दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। चलते-फिरते जब कभी हम कोई अनूठी चीज देखते हैं और उससे जब हमारे हृदय में आनंद या विस्मय का भाव भर जाता है तब अपने हृदय के भीतर उस समस्त भाव को न रख कर हम अपने साथियों को भी उस ओर इंगित कर आनंद या विस्मय के भाव से भर देना चाहते हैं। दुख में भी हमारी यही प्रवृत्ति रहती है। जब हम दुखी रहते हैं तब दूसरों को सुखी देखने का धैर्य्य कम ही रखते हैं। अपने पीछे हम चराचर विश्व को भी अनुकंपित देखना चाहते हैं। मनुष्य की यही प्रकृति शेष सृष्टि के साथ एकरूपता—जातीयता—का संबंध स्थिर करती है।

अभिव्यक्ति और मानव प्रकृति

हमारे मन में जो कुछ है उसको दबाकर अव्यक्त रखना बड़ी शक्ति का काम है। स्वभावानुसार उसे अभिव्यक्त करने पर ही ह[illegible] शांति मिलती है। अभिव्यक्त करने का ढंग बहुत कुछ [illegible] सारी प्रतिभा, योग्यता तथा शिक्षा पर निर्भर [illegible] है। जो मूर्ख है, अरसिक है उसके [illegible] में न तो भाव केलिए [illegible]ह है और न मन में कल्पना केलिए [illegible]

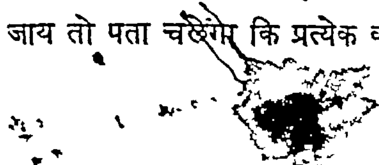
फिर उसके लिए अभिव्यक्ति कोई चीज ही नहीं। सुनी-सुनाई बात को अविकल रूप से तोते की तरह कह देना कुछ और है और अपनी ओर से उसी बात को एक नई शैली में ढालकर कहना कुछ और ही प्रभाव रखता है। एक पाश्चात्य विद्वान् के मतानुसार झूठ बोलने से

सत्यासत्य का भेद

मौलिकता की शक्ति बढ़ती है। सत्यासत्य के निर्णय का भार कर्त्तव्य-शास्त्र के ऊपर है। यहाँ इसकी मीमांसा का स्थान नहीं है। हम असत्य के सहारे या मनगढ़ंत बातों के आधार पर व्यंजित प्रभाव की चर्चा करना नहीं चाहते। सत्य के प्रभाव में जो स्थायित्व है वह असत्य में संभावित भी नहीं। इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि प्रत्येक असत्य में थोड़ा-सा भी सत्य का तत्त्व मिला ही रहता है। यदि ऐसा न रहे तो थोड़ी देर के लिए भी लोगों को असत्य पर विश्वास न जमे, किंतु सदा ऐसा नहीं होता। झूठी बात को भी हम सच्ची मानकर उस पर विश्वास कर लेते हैं। झूठ बोलकर हम दूसरों को धोका देने की इच्छा रखते हैं, पर यह नहीं चाहते कि दूसरे भी झूठ बोलकर हमें धोका दें। यदि झूठ बोलने का नियम ठीक होता तो सभी झूठ ही बोलते और तब कोई एक दूसरे पर विश्वास ही न रखता। फिर हमारे झूठ बोलने का कुछ उपयोग ही न रहता। इससे यह स्पष्ट है कि झूठ बोलने की इच्छा होना एक अपवाद है। सत्य सदा असत्य

प्रकृत सत्य और काव्यगत सत्य

का विरोध ही करता है। अंतर इतना ही है कि विज्ञान में हम निरपेक्ष सत्य की जिज्ञासा करते हैं, पर काव्य में हम अपनी कल्पना और भावना के उत्कर्ष के लिए सत्य को अविकल रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि प्रत्येक कला का पूर्व रूप



विज्ञानमय है और प्रत्येक विज्ञान का उत्तर रूप कलामय। स्थूल-रूप से यही कहा जा सकता है कि काव्य का सत्य इतिहास का सत्य नहीं हो सकता। काव्य का उद्देश्य हमारे चित्त पर अभीष्ट प्रभाव डालना होता है और इतिहास हमारे लिए ज्ञान-भंडार का द्वार खोलता है। इसी कारण काव्य-विधान केलिए हम निरलकृत अवस्था में सत्य को बाहर नहीं निकालते। जिस प्रकार कोई अभिनेत्री दर्शकों के मनोरंजन केलिए खूब सुसज्जित होकर रंगभूमि में उतरती है उसी प्रकार कवि का सत्य भी पाठकों के ऊपर प्रभाव डालने के निमित्त भावनाओ, कल्पनाओ और बहुवर्णों से संश्लिष्ट होकर प्रकाशित होता है।

काव्यगत सत्य की प्रकृति

काव्य में सत्य की एक भिन्न परिभाषा और प्रयोजन है। अपेक्षा और औचित्य से मिलता-जुलता जो हो वह भी काव्य में सत्य ही है। अभिज्ञान शाकुतलम् के अ तिम अंक में यदि दुष्यत और शकुंतला के मिलन-व्यापार की योजना न होती तो समस्त नाटक ही असत्य हो जाता। काव्यगत सत्य केलिए यह सर्वथा अपेक्षित है कि वह आतरिक आवश्यकता और औचित्य-विचार की उपेक्षा न करे। पाठकों के आशा-क्रम पर व्याघात पहुँचाना सत्य के ऊपर आघात करना ही है। आशा-क्रम का विवेचन दो दृष्टियों से किया जा सकता है। पाश्चात्य दृष्टि में घटना और चमत्कार का इतना बाहुल्य रहता है कि यह कहना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है कि आगे की घटना किस ओर मुड़ेगी। पाठकों को असमजस मे डाल रखना वहाँ के काव्य का प्रधान लक्ष्य रहता है। भारतीय दृष्टि मे काव्य के लिए इतना असमंजस और घटना-चक्र अपेक्षित नहीं। रस-परिपाक

केलिए भावों के जितने घात-प्रतिघातों की आवश्यकता रहती है वही यहाँ यथेष्ट समझी जाती है। यदि रामायण में रावण का निधन न हो, महाभारत में कौरवों का पराभव न हो तो दोनों महाकाव्य भारतीय दृष्टि से ही असत्य समझे जायँगे। काव्य-गत सत्य के साथ औचित्य का जो संबध है वह कण्व ऋषि के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

काव्यगत सत्य का औचित्य

पिछले अध्याय में हम अभिज्ञान शाकुतलम् के चतुर्थ अक का एक श्लोक उद्धृत कर चुके हैं। शकुतला की विदाई के कारण कण्व ऋषि वाष्प-गद्गद हो रहे हैं। कवि ने इस स्थल पर सत्य की रक्षा बहुत सुदर ढग से की है। कण्व एक ऋषि हैं, यह सत्य है; ऋषि सासारिक माया-मोह से विरत रहते हैं, यह भी सत्य है। फिर दूसरे पक्ष में शकुन्तला कण्व ऋषि की पालिता कन्या है, यह सत्य है; कन्या की विदाई के समय पिता का हृदय स्नेहाधिक्य के कारण उमड़ आता है, यह भी सत्य है। दोनों पक्षो के समन्वय से औचित्य और सत्य का सबध स्पष्ट हो जाता है। यदि कण्व ऋषि शकुतला की विदाई के कारण प्राकृत जन की तरह छाती पीट-पीट कर रोते तो उनका ऋषित्व असत्य हो जाता और यदि वे इस करुणाजनक दृश्य को देखकर भी एकांत रूप से निष्कप रहते, स्नेहार्द्रता न दिखाते तो यह असत्य हो जाता कि उन्होंने शकुंतला को पाला-पोसा है और उनकी छाती के भीतर मनुष्य का एक हृदय भी स्पदित हो रहा है। यदि काव्यकार अपने काव्य में औचित्य का कुछ विचार ही न रखे तो पाठक या श्रोता को रसानुभूति हो ही नहीं सकती। काव्य का यह औचित्य है और इसी औचित्य के कारण सत्य का विधान हुआ है।

कला प्रकृति की अनुकृति है—समीक्षा

जो दृश्य या तथ्य जैसा है उसको ठीक वैसा ही व्यक्त करना काव्य नहीं है। यूरोप का एक साहित्य-सम्प्रदाय कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है। इस सम्प्रदाय की सब से बड़ी भूल यही है कि कला को प्रकृति की ठीक अनुकृति मानने पर उसमें कलाकार की आध्यात्मिक सत्ता का मेल नहीं रह सकता। प्रकृति में जो प्रत्यक्ष है वही काव्य में परोक्ष हो जाता है; अतएव इस परोक्ष को फिर से प्रत्यक्ष बनाने केलिए सामान्य अनुकृति से काम नहीं चल सकता। जो अपना भाव है उसको दूसरे का भी भाव बनाने केलिए साधारण ढग से कृतकार्यता नहीं हो सकती। यदि इस कथन का यह तात्पर्य लिया जाय कि कलाकार का कर्त्तव्य प्राकृतिक पदार्थों की ऐसी प्रतिकृतियाँ प्रस्तुत करना है जो हमारी इंद्रियो पर मूल पदार्थों के सदृश ही प्रभाव डालें जिन्हें देखकर हमें चकित होना पड़े तो यह हमारे सिद्धांत के ही विरुद्ध न होगा, वल्कि कला के स्वरूप को भी वहुत कुछ विकृत कर देगा। कला मे चमत्कार और भ्रम केलिए कोई स्थान नहीं है। मनुष्य की शक्ति प्रकृति की वरावरी नहीं कर सकती, अतः उसका सफल अनुकरण ही कैसे हो सकता है! जगत् के सत्य में हमारी प्रतीति और संवेदना को उभाड़ने की बड़ी शक्ति रहती है, उसके प्रमाण हमारी इद्रियो के समुख वर्त्तमान रहते हैं। काव्य मे हमें इसी शक्ति की उद्भावना करनी पड़ती है। यदि कला प्रकृति की अनुकृति हो तो जो कुछ जगत् में है उसको अविकल रूप से कह देना ही काव्य हो जाता, किंतु ऐसा नहीं होता। इतिहास से काव्य का काम नहीं चल सकता। प्राकृत पर कृत्रिमता का थोड़ा वहुत वोझ लादा जाता है, परतु यह सत्य के अनुरोध से

ही करना पड़ता है। कृत्रिमता का यह बोझ हमें सत्य तक पहुँचाने में बहुत सहायता देता है। त्रिनेत्र के रोष से कामदेव के भस्मीभूत हो जाने पर रति ने यथार्थ में कितना विलाप किया, इसका हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, किंतु महाकवि कालिदास ने रति-विलाप का जो करुण तथा वैदग्ध्यपूर्ण वर्णन किया है उससे क्या हमारे हृदय की रागिनी विकल नहीं हो जाती? क्या उस वर्णन की असत्यता हमारी प्रतीति में बाधक होती है? यही प्राकृत सत्य और काव्यगत सत्य का अतर है। काव्य में जो सत्य निहित रहता है वह प्राकृत सत्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। महाकवि कालिदास ने कला के अनुरोध से प्राकृत पर थोड़ा बहुत असत्य का बोझ अवश्य लादा होगा, पर अब वह सत्य मे इतना सन्निहित हो गया है कि उसके लिए सत्य से भिन्न कोई दूसरी संज्ञा हो ही नहीं सकती। कला को प्रकृति की अनुकृति मानने से उसकी सजीवता नष्ट हो जाती है और सजीवता नष्ट हो जाने पर कला रह ही नहीं जाती।

कलावादियो का एक दूसरा सप्रदाय 'कला कला केलिए' ही मानता है। इस सप्रदाय का जन्म तथा विकास यूरोप के फ्रेंच साहित्य में हुआ है। भारतवर्ष में इस सप्रदाय के पोषक कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर कहे जाते हैं। भारतवर्ष की तरह यूरोप में भी इस सप्रदाय के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं है। ससार की प्रत्येक वस्तु का कुछ-न-कुछ उपयोग है, उसका कोई-न-कोई व्यापक लक्ष्य होता है। जिस किसी वस्तु का सबध मानव जीवन के साथ स्थापित किया जायगा उसका अवश्य ही कुछ उद्देश्य बताना पड़ेगा। वह उद्देश्य चाहे साधारण हो या असाधारण। कला का उद्देश्य यदि मानव समाज से हटाकर

कला कला के लिए—समीक्षा

कला ही रखा जाय तो कलाकार को कला-निर्माण में कैसे रुचि होगी, यह विचारने की बात है। जिस वस्तु का कोई उद्देश्य नहीं जिसका कुछ उपयोग नहीं उसका निर्माण ही कोई क्यो करें। काव्य-कला का भी उद्देश्य होता है। मनुष्य के सभी काम किसी उद्देश्य से ही होते हैं। बाहर से कुछ काम भले ही व्यर्थ और निरुद्दिष्ट जॅचे, परतु उनके मूल में कोई उपयोगी प्रवृत्ति ही काम करती है। बच्चे का अनुकरण से कागज या स्लेट पर अटसट घिसना भी उपयोग से खाली नहीं। इससे बच्चे की प्रवृत्ति लिखने की ओर बढने के साथ ही उसका मन बहलाव होता है। फिर कला-जैसी उपयोगी वस्तु को उद्देश्य-हीन बताना कितनी असंगत बात है।

कवींद्र रवींद्र का विचार

'कला कला केलिए है' इसका तात्पर्य समझने में बहुत ही वाग्विस्तार करना पड़ा है। इसका तात्पर्य कला की उद्देश्य-हीनता से नहीं है। इस कला-सप्रदाय के अनुयायियो ने कला के स्वरूप को व्यर्थ के वाद-विवाद से इतना प्रच्छन्न कर दिया है कि उसका यथार्थ रूप सहज ही स्पष्ट नहीं हो सकता। स्वय कवींद्र रवींद्र ने भी कला की उद्देश्य-हीनता उस रूप में स्वीकृत नहीं की है जिस रूप में कलावादी प्रायः बोला करते हैं। उनका विचार, इस सबध में, यही है कि कला जिस आकृति का सहारा लेती है उससे वह अलग नहीं हो सकती। कहने का भाव इतना ही है कि कवि ने मौलिक रूप से जिस पदावली का प्रयोग किया है उसी में उसकी कला निहित है। उसके स्वरूप को समझने केलिए यदि अन्य पदावली की योजना की जायगी तो कला का रूप विकृत हो जायगा। रवि बाबू ने लिखा है—'ज्ञान के विषय को लेकर नाना प्रकार के लोगों में नाना भाषाओं द्वारा अनेक

प्रकार से प्रचारित किया जा सकता है—इसी प्रकार उसका उद्देश्य यथार्थ रूप से सफल हुआ है, किंतु भावो के विषय मे यह बात नही हो सकती, वे जिस मूर्ति का सहारा लेते हैं उससे फिर अलग नहीं हो सकते १ ।'

यह स्पष्ट है कि कोई कलाकार 'स्वांतःसुखाय' कला का निर्माण नहीं करता। इतना हो सकता है कि जिस दिशा में उसकी प्रवृत्ति हो उसी में वह कला का विधान करे। जीवन को छोड़कर कला को कहीं आश्रय नहीं मिल सकता। उसका लक्ष्य व्यापक मानव समाज ही रहता है। गोस्वामी तुलसीदास यह भले ही कहें कि उन्होंने अपने 'रामचरित-मानस' की रचना स्वांतःसुखाय की है, पर मानस के पढ़ने से पद-पद पर यह लक्षित होता है कि उन्होंने जनता को लक्ष्य कर ही उसकी रचना की है। यदि गोस्वामीजी ने अपने रामचरित्र मानस का लक्ष्य जन-समाज में प्रचारित करना न रखा होता तो उसके बहुत से अंश क्षेपक समझ कर निकाल दिए जा सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि से वही काम करता है जो उसे अच्छा लगता है। इसी प्रकार कलाकार भी अपनी रुचि के अनुसार ही कला का विषय चुनता है। विषय-निर्वाचन तथा प्रतिपादनशैली में हम स्वातःसुखाय को कुछ दूर तक मान सकते हैं। लेकिन, कला के विधान-काल में जन-समाज को भूल जाना सभव नहीं। इस सबध मे कवींद्र रवींद्र का कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं—'शुद्ध भाव से एक-मात्र अपने आनंद केलिए ही लिखने को साहित्य नहीं कहते। कुछ लोग कविता रच कर कहते हैं कि जैसे पक्षी अपने आनंद के उल्लास में

कला का लक्ष्य

१. रवींद्रनाथ ठाकुरः साहित्य (हिंदी-अनुवाद)—साहित्य की सामग्री।

गाता है उसी प्रकार लेखक की रचना का उच्छ्वास भी अपने लिए ही होता है—मानों पाठक उसे छिप कर सुना करते हैं। पक्षी के गान में पक्षी-समाज के प्रति कुछ भी लक्ष्य नहीं होता, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता। नही होता तो नहीं सही, इसको लेकर तर्क करना व्यर्थ है—किंतु लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है १।' उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित हो जाता है कि रविबाबू भी कला का उद्देश्य मानते हैं।

ब्रेडले ने आक्सफोर्ड के अपने कविता-विषयक व्याख्यान में तर्कों के विराट् आयोजन के साथ 'कला कला के लिए' ही मानी है।

ब्रेडले का विचार

उन्होंने कला को वाह्य संसर्ग से बिलकुल मुक्त रखकर उसका अलग ही स्वतंत्र, पूर्ण और स्वयविधायक (autonomous) संसार माना है २। जीवन-पक्ष को छोड़ देने से कला में कुछ तत्त्व ही नहीं रह सकता। एक कलाविद् ने जीवन से निरपेक्ष रहकर ही काव्यानुशीलन का ढग वताया है ३। ब्रेडले की अन्य वातों को हम विशेष महत्त्व नहीं देते, किंतु कला का अर्थ स्वय कला ही है, ४ यह कहकर उन्होंने बड़ी मार्मिकता का

१ वही, पृ० ७

२. Its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we Commonly understand that phrase), but a world in itself independent, complete, autonomous
A C Bradley Oxford Lectures on Poetry, p 5

३ To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions—
Clive Bell: Art, p 25

४ This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem we can only be answerd 'It means itself' —A C. Bradley.

परिचय दिया है। किसी काव्य का अर्थ उस काव्य से भिन्न नहीं हो सकता। कवि के सगठित पदों को छोड़कर अन्य पदों से कला के निर्वाह के साथ काव्य की व्याख्या नही हो सकती। महाकवि कालिदास के रघुवश और भवभूति के उत्तररामचरित आदि काव्य-नाटक में कला जिन स्वरूपों में व्यक्त हुई है उनसे भिन्न उनका अर्थ नहीं हो सकता।

रिचर्डस् का विचार

'कला कला केलिए' का यदि इतना ही तात्पर्य रहे तो अच्छी बात है, किंतु जीवन से निरपेक्ष रखना उसके महत्त्व को कम करना है। रिचर्डस् महोदय ने अखडय तर्कों और मार्मिक युक्तियो से कलावाद की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति पर अच्छा कुठाराघात किया है। उनके मतानुसार कविता का विश्व शेष सृष्टि से भिन्न कोई यथार्थता नहीं रखता। इसके न खास नियम हैं और न विचित्रताएँ। प्रत्येक कविता हमारी अनुभूति का एक खंड-मात्र होती हैं १। अन्य अनुभूतियें से काव्यानुभूति में सब से बड़ी भिन्नता की बात यही है कि इसमें प्रेषणीयता का होना अनिवार्य है। अपनी अनुभूतियें को दूसरे हृदय तक पहुँचाने में यदि हम असमर्थ रहे तो वह काव्यानुभूति न होकर सामान्य अनुभूति ही रह जायगी। इन सब बातों से यह निश्चित होता है कि कला किसी नई और अपरिचित दुनियां की चीज नहीं है। वह इसी संसार की वस्तु है और हमारे जीवन के साथ उसका घनिष्ट सबध है। यदि वह अलौकिक रहती तो उससे किसी रस को प्रतीति न होती, केवक कुतूहल ही बढता।

१. I A. Richards: Principles of Literary. Criticism p 78

कुछ लोग कला में द्वित्व की भावना रखते हैं। चाहे वह काव्य-कला हो वा चित्र-कला, दोनों में दो-दो मूर्त्तियों का विधान करते हैं। एक स्थूलता की मूर्त्ति और दूसरी सौंदर्य की संश्लिष्ट भावना की। किसी काव्य-कला की पहली मूर्त्ति शब्द, छद, वाक्य-विन्यास आदि की रहती है और दूसरी उसकी सहायता से कल्पना में जो बिंब उपस्थित होता है उसकी। चित्र-कला में भी पहली मूर्त्ति उसके पट की स्थूलता की और दूसरी उससे जो भाव-ग्रहण किया जाता है उसकी। किंतु, विचार करने पर इन मूर्त्तियों का द्वित्व सर्वथा अस्तित्व-हीन ठहरता है। कला में उसी वस्तु का महत्त्व है जो हमारी आत्मा का स्पर्श कर सके। पहली मूर्त्ति का, चिंतन हम कभी नहीं करते, उससे उत्पन्न सौंदर्य-भाव का मूल्य ही कला का लक्ष्य है। काव्य में हमारा ध्यान शब्द, छद, वाक्य-विन्यास आदि पर जाता है सही, और इन्हीं की सहायता से हम बिंब-ग्रहण भी करते हैं, किंतु इस बिंब-ग्रहण के अतिरिक्त कला का दूसरा साध्य नहीं है। बिंब-ग्रहण के समय हम अन्य बातों की कल्पना भी नहीं करते। अतः कला में द्वैत का निरूपण करना व्यर्थ ही नहीं, झंझटों को बढाना भी है।

कला में द्वित्व की भावना—समीक्षा

कलावादियों का एक भिन्न सम्प्रदाय सहजानुभूति और कला की एकात्मता प्रदिपादित करता है, पर कुछ लोग यह मानते हुए भी कि कला सहजानुभूति है, कहते हैं, वह एक दूसरी श्रेणी की सहजानुभूति है। साधारण सहजानुभूति से उसमें कुछ विशेषता है। विशेषता यह बताई जाती है कि जिस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धांत विचार का विचार होता है उसी प्रकार कला की सहजानुभूति सहजानुभूति की सहजानुभूति होती है।

कला और सहजानुभूति—समीक्षा

वास्तव में न तो विचार का विचार ही कुछ है और न सहजानुभूति की सहजानुभूति ही। छोटा-से-छोटा विचार भी स्वतःपूर्ण होता है। विज्ञान जिस तरह प्रत्यक्ष अनुभवों के स्थान पर विचार की स्थापना करता है उसी तरह कभी-कभी बहुत-से छोटे-छोटे विचारों के स्थान पर एक बड़े विचार की, पर उसके निर्माण की क्रिया सदा एक-सी होती है। यही सहजानुभूति के विषय में भी कहा जा सकता है। कला की सहजानुभूति अधिक विस्तृत, अधिक मिश्रित हो सकती है, किंतु वह होती है इंद्रिय-बोध तथा मानसिक अनुभवों के ही आधार पर। साधारण सहजानुभूति की प्रकृति तथा तीव्रता से उसमें कोई वास्तविक विशेषता नहीं रहती। दोनों एक ही हैं, भेद का आडबर दिखाना वृथा है। अपने आविष्कार मे सफल होने पर आर्किमिडस् ने अपने सारे मनोवेग को जिस एक शब्द में (Eureka !) अभिव्यक्त किया था उसमें और एक लबे दुखात नाटक में कोई आतरिक भेद नहीं। उस दुखांत नाटक केलिए नई सहजानुभूति के साथ-साथ पुरानी अभिव्यजना को भी फिर से प्रभाव-में रूपातरित कर एक बड़ी सहजानुभूति में मिला देना होगा। पुरानी सहजानुभूति या अभिव्यजना का इससे अधिक और कोई मूल्य नहीं। इसी प्रकार का भेद कलाकार और साधारण मनुष्य में है। कुछ लोग अपने अंतःकरण की अत्यंत संकुल अवस्थाओ की अभिव्यक्ति करने में दूसरों की अपेक्षा अधिक पटु होते हैं, उनकी उस ओर विशेष रुचि होती है। ऐसे ही लोगों को हम कलाकार, महाकवि, प्रतिभाशाली आदि कहते हैं। उनको हम मानव जाति से अलग नहीं कर देते या अपने लिए ही हम कोई दूसरी सज्ञा चुनकर मानवता पर उन्हें सर्वाधिकार नहीं दे देते। सभी मनुष्य हैं, परतु यह सर्वथा

सत्य और स्वाभाविक है कि प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि, विचार, भाव, विवेक, प्रतिभा भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार सहजानुभूति की कोई विशेष श्रेणी निश्चित नहीं की जा सकती। यदि श्रेणी-विभाग किया जाय तो जगत् में जितने मनुष्य हैं उतनी ही श्रेणियाँ होंगी, क्योंकि एक मनुष्य ठीक दूसरे की भाँति कल्पना, भावना या चिंतना नहीं कर सकता। उसमें थोड़ा अंतर भी अवश्य होगा। कला की ओर जिनकी रुचि नहीं, जो न तो कल्पनाशील हैं और न प्रतिभा-संपन्न ही, उनको सहजानुभूति हो ही नहीं सकती। संभव है, कभी उनके मन में सहजानुभूति के [कुछ चित्र उदित हों, पर यदि वे अंकित किए जायँ तो वे पागल के प्रलाप-मात्र होंगे। कला उनसे कोसों दूर बैठकर अपने भाग्य पर आँसू बहावेगी।

चेतनता अचेतनता की स्थिति

पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि सहजानुभूति और अभिव्यंजना में अंतर नहीं है। सहजानुभूति होते ही अभिव्यंजना कला-निर्माण में प्रस्तुत हो जाती है। यह दूसरी बात है कि उस अभिव्यंजना को वर्णों से अलग रखा जाय। कुछ लोग यह कहते हैं कि कलात्मक अभिव्यंजना अचेतनावस्था में होती है। शायद इसी कारण प्रतिभाशाली पागल समझे जाते हैं। वस्तुतः प्रत्येक मानव-क्रिया की भाँति कला भी चेतनावस्था में निर्मित की जाती है। मनुष्य की जिस क्रिया या प्रयत्न में इच्छा का योग नहीं है वह क्रिया या प्रयत्न हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाओं और कला-कृतियों में कोई अंतर ही न रहता। इतना अवश्य ही ठीक है कि कलाकार की चेतनता एक इतिहासकार या समालोचक की चेतनता नहीं होती। इसके विपरीत कलाकार में भावुकता, गंभीरता

[illegible]

[illegible]

हुई कला का विधान करती है। जिस अभिव्यक्ति में मनोवेग की उत्कट प्रेरणा रहेगी वह निश्चय ही सुदर होगी। घर से थोड़ी दूर

स्वतः प्रसूत कला

पर आततायी मुसलमानों के घोड़ो की टाप सुनकर अपने भाई को भोजन कराती हुई उस मध्यकालीन बालिका का हृदय जिन शब्दो में प्रकट हुआ था वे सरल होने पर भी क्या मर्मस्पर्शी नहीं हैं?—सचमुच मनोहर है वह गीत! राजस्थान की जिन अशिक्षित कुमारियों की अवहेलना जगत् अधकूप की हेय निवासिनी कह कर करता है उनका भी उल्लास जब मॉड़ की कोमल स्वर-लहरी में फूट पड़ता है तब क्या वह सुदर नहीं होता? पिछले जर्मन-युद्ध में गए हुए सैनिकों को प्रोषित-पतिकाएँ अपने प्रिय पतियो की स्मृति में, दैनिक काम-धधो के बीच-बीच में, जो विरह-गीत गाया करती थीं उनकी सतत स्मृति क्या अब भी हृदय को तीर की तरह आर-पार विद्ध नहीं कर देती? कौन साहस कर यह कह सकता है कि ये सुदर अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं! हमें कविवर सुमित्रानदन पत के ये शब्द—

'सुप्ति की ये स्वप्निल मुस्कान
वन्य विहगों के गान'

और—

'रुधिर से फूट पड़ी अनजान
पल्लवों की यह सजल प्रभात'

—उनकी वाटिका पल्लवों से, इस वन-वीथी के पल्लवों केलिए कहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। भले ही उनमें सांत अनंत के निभृत आलिंगन का प्रत्यक्ष वर्णन न हो, सुकवि के छायान्वन की

साँस न हो, हीरक-से तारों को चूर-चूर कर प्याला न बनाया गया हो, किंतु वे हैं अनुभूति-मूलक अभिव्यक्तियाँ! देश में फैले हुए

छोटे-छोटे भाव-खण्डों के आधार पर काव्य-निर्माण

ऐसे ही छोटे-छोटे गीतों के आधार पर महाकवि अपने महाकाव्यो का निर्माण करते हैं। स्वतःप्रसूत गीतों में व्यक्तित्व का विकास उतना नहीं हो सकता जितना चेतनायुक्त होकर काव्य-निर्माण में। रामायण और महाभारत में वाल्मीकि तथा व्यास का व्यक्तित्व बहुत स्पष्ट नहीं हो सका है। इसका कारण यह है कि इन दोनों महाकाव्यों में भारतीय जीवन के ऐसे मिश्रित वर्णन हैं जिनमें से कवि के व्यक्तित्व का ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है। रामायण पढ़ते समय हमारे हृदय मे वाल्मीकि की बहुत-कुछ धाक बनी रहती है, पर व्यास का अस्तित्व एक दूसरे ही ढंग से महाभारत में व्यक्त हुआ है। यदि इन दोनों महाकवियों ने स्वय अपने को भी अपने महाकाव्यों में एक-एक पात्र बना न लिया होता तो वह ज्ञान भी जो उन दोनो के सबध में हमें प्राप्त है, न हो सकता। इसमे सदेह नहीं कि देश मे प्रचलित गीतों के चित्र उतने पूर्ण नहीं होते, उनमें विस्तार का उतना ध्यान नहीं रहता, उनके रग उतने भड़कीले नहीं होते, पर हमें तो यह अपूर्णता उस पूर्णता से कहीं अधिक अच्छी लगती है। संस्कृत, हिंदी, अगरेजी की बहुत-सी मुक्तक कविताओं में हमने ऐसी अपूर्णता देखी है। वास्तव में यह आकस्मिकता की परिचायक है। यह बात नहीं है कि अभिव्यंजना ही अपूर्ण होती है। ऐसा तो हो ही नहीं सकता; केवल बाह्य उपकरण अपूर्ण-से दिखाई देते हैं, अपूर्णता का आभास होता है। उनके वे मुक्तक काव्य आरंभ में सरल स्वाभाविक शब्दों में रेखा-चित्र-से बनाते चलते हैं, भाव धीरे-धीरे

जागरित होता चलता है, पर अंत होते-होते कवि की लेखनी स्वयं जैसे उत्तेजित हो उठती है, एक दो उक्तियाँ ऐसी मर्म-स्पर्शिनी बन पड़ती हैं कि सारे काव्य के साथ पाठक या श्रोता का हृदय भी एक अत्यंत ऊँची रस-भूमि पर पहुँच जाता है।

कोई संवेदन, कोई मानसिक अनुभव तब तक कला का स्वरूप ग्रहण नहीं करता जब तक वह हमारी आध्यात्मिक सत्ता का ही एक अंग नहीं बन जाता, और यह सौभाग्य उसे तभी प्राप्त हो सकता है जब वह इस आध्यात्मिक क्रिया की सहायता से आकृति में परिणत हो जाय।

संवेदन और कला

हमारी आत्मा अपनी क्रिया से संवेदन तथा उसके कारणभूत इंद्रिय-बोध और प्रभाव को सर्वथा रूपांतरित कर देती है। उन पर अपने विशेषत्व की छाप लगा कर वह अपनी श्रेणी का ही बना लेती है। निर्विकार तथा शुद्ध संवेदन की स्थिति, कला की दृष्टि से, एक निष्क्रिय अवस्था है। हम उसका अनुभव कर सकते हैं, सृजन नहीं। कितनी बार हमें संवेदन होते हैं, हम जानते हैं हमारे हृदय में कुछ-न-कुछ हो रहा है, किंतु क्या हम उन्हें सदा व्यक्त कर सकते हैं?

पशु और मनुष्य का भेद

मानव प्रकृति की मूल वृत्तियाँ तो पशु के ही समान हैं, उसकी विशेषता है सृजन-शक्ति। पशु भी अपने पुराने मालिक के घर से सदा केलिए विदा किए जाने पर शोकाभिभूत हो जाता है, कभी-कभी वह नए मालिक को छोड़ कर फिर पुराने मालिक के ही द्वार पर चला आता है। अपने बच्चे को बाल-सुलभ उल्लास में इधर-उधर उछलते-किलकते देखकर उसके भी रोम-रोम सिहर उठते हैं। अपने बच्चे के निकट किसी दूसरे पशु या मनुष्य को आते देखकर अनिष्ट की आशंका से उसके

सींग भी ठीक मारने की मुद्रा में स्थित हो जाते हैं ! ऐसा करने से अपनी संतान के प्रति उसके ममत्व-भाव की रक्षा होती है। इतना कर चुकने पर भी पशु काव्य प्रस्तुत नहीं कर सकता, क्योंकि उसे वैसी प्रेरणा ही नहीं होती। यदि कोई अपनी प्रणयिनी के आसव की प्याली-जैसे त्रिंबाधरो को, उसके भ्रूकुटि-विलास को, उसके उभड़ते हुए यौवन को, उसकी सहज चपल मनमोहनी चेष्टाओ को देख कर आलिंगन की लालसा से आगे बढ सकता है तो यह सदा सत्य नहीं है कि वह रसिक-शिरोमणि बिहारीलाल की तरह ही हावों की सुदर योजना प्रस्तुत करने में सक्षम हो सकेगा। हाँ, यदि वह एकांत में बैठकर उसी रति-भाव से प्रेरित हो अपने मानस-पट पर उसी सुंदर रूप का अपने भावो के मनोहर रगों में रँगा हुआ एक चित्र अपनी कल्पना-तूलिका से उपस्थित कर सकता है तो, संभव है, वह कला का विधान कर सकता है। यहाँ यह बात याद रखनी होगी कि अनुभूत संवेदन की केवल स्मृति से ही काम न चल सकेगा। कलात्मक अभिव्यक्ति और भाव-प्रेरित सहज अनुभाव एक ही कोटि के नहीं। एक हमारी आत्मा का काम है, दूसरा हमारे मन का।

अभिव्यजना में अभिनय का योग

पहले हम कह चुके हैं कि अभिव्यक्त होने केलिए वस्तु, भाव और मनोराग को विकसित होकर सहजानुभूति का रूप ग्रहण करना पड़ता है। एक बार सहजानुभूति के रूप में परिणत हो जाने पर उनका अभिव्यक्त होना अनिवार्य है। हमारा अतःकरण उतनी ही सहजानुभूतियो का निर्माण कर सकता है जितनी को वह अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। हम अपनी सहजानुभूति को केवल शब्दों में ही प्रकट नहीं करते, बल्कि अपने अनुभावों और इंगितो से भी उसको व्यजित

करने की चेष्टा करते हैं। जब कोई अल्हड़ और सहृदय ग्रामीण युवक अपनी प्रिय बाला को पनघट पर अपने घड़े में जल भरते हुए देख लेता है और दूसरों की दृष्टि बचाकर या किसी बहाने से ही उससे अपने मन की दो-एक बात कर आता है तब क्या वह अपनी मित्र-मडली में उस बाला की चेष्टाओं का वर्णन केवल शब्दो में ही करता है? उस अभिव्यक्ति में उसका सारा शरीर योग देता है। उस प्रिय बाला का जल में घड़े का डुबोना, फिर अपनी गोल-गोल बाहुओ को ऊपर उठाकर केश-पाश सँभालना, गेंडुली को झाड़ कर सिर पर रखना, भरे हुए घड़े को उठाकर घुटने पर रख थोड़ा पानी उलीचना और पुनः उसको सिर पर रख अपनी सहेलियों के साथ विहँसती बातचीत करती हुई घर जाने के दृश्य का वर्णन जिस उमग के साथ—जिस भाव-भंगिमा के साथ—वह करता है उसमें अनुभावों के द्वारा अभिनय भी होता चलता है। उसकी सब क्रियाएँ मिलाकर अभिव्यंजना हैं, सब मिलाकर कला हैं।

आचार्य शुक्ल के विचार—समीक्षा

आदरणीय आचार्य रामचद्र शुक्ल ने लिखा है—'उक्ति-वैचित्र्य या अनूठेपन पर जोर देने वाले हमारे यहाँ भी हुए हैं और योरप में भी आजकल बहुत जोर पर हैं, जो कहते हैं कि कला या काव्य में अभिव्यजना (Expression) ही सब-कुछ है, जिसकी अभिव्यजना की जाती है वह कुछ नहीं १।' पिछले अध्याय मे हम यह लिख आए हैं कि आकृति-विधान तो अभिव्यजना केलिए प्रधान बात है ही, काव्य-वस्तु को छोड़ने से भी उसका काम नहीं चलता। काव्य-वस्तु का तिरस्कार करना अभिव्यजनावाद का कदापि लक्ष्य नहीं है। जिस रूप में

१. आचार्य रामचद्र शुक्ल: काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६७

अभिव्यंजना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में वस्तुतः अनावश्यक है, किंतु उक्ति की प्रकृति और आकाक्षा पर ध्यान देना आवश्यक है। यूरोपवाले लक्षणा से जितना काम लेते हैं उतना हमलोग नहीं, इसी कारण लक्षणा-पूर्ण उक्तियों का मर्म हम बहुधा समझ ही नहीं पाते। हमारे यहाँ व्यजना की प्रकृति पर अपेक्षाकृत विशेष ध्यान दिया गया है। लक्षणा और व्यजना दोनों का विचार कला में होना चाहिए। जिस रूप में कला व्यक्त हुई है उससे भिन्न रूप में कला के जीवन की रक्षा सभव नहीं। महाकवि बाल्मीकि की किसी उक्ति का यदि हम अपने शब्दो में अर्थ करें तो वह उनकी कला न रहेगी और हम उससे फिर कला-विधान कर सकेंगे या नहीं, यह बहुत दूर की बात है। राम की इस उक्ति में—

न स सकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।

उनका उपर्युक्त श्लोकार्द्ध ही कथन माना जायगा। यदि इसके अर्थ-जिस प्रकार बाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो—में भी उतना ही काव्यत्व माना जाय तो कवि के पद-सघटन या रचना-नैपुण्य की प्रशसा करना व्यर्थ है। राम की उक्ति में ही काव्य-त्व या कला है, उसके अर्थ या व्याख्या से कला का निजी रूप विकृत हो जाता है। यदि उक्ति में स्वभावतः अर्थ-व्यक्ति की शक्ति नहीं तो उसे अभिव्यजना क्या, उक्ति भी कहना भ्रामक है। एक उदाहरण और लीजिए। स्वर्गीय गगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'रस-वाटिका' से उद्धृत और आचार्य शुक्ल का विवेचना किया हुआ १ एक वाक्य है—'यह लड़का अपने घर का दीपक है।' इस वाक्य से यही व्यजित

१. आचार्य रामचद्र शुक्लः जायसी-ग्रथावली, (भूमिका)

होता है कि यह लडका होनहार है और स्वजनो की आशा इस पर लगी हुई है। अभिव्यजनावादी भी इस वाक्य से यही तात्पर्य समझेंगे। कोई यह समझने की भूल नहीं कर सकता कि इस लड़के के रहने से घर में रोशनी करने केलिए तेल की बचत होती है। लक्षणा की सहायता से जो अर्थ व्यजित होता है वही मुख्य है। उससे भिन्न अर्थ की योजना नहीं हो सकती।

अभिव्यजनावाद में भाव-व्यजना तथा वस्तु-व्यंजना

अभिव्यजनावाद में रसवादियों की भाँति न रस व्यग्य रखा गया है, न ध्वनिवादियो की तरह वस्तु ही। यदि सहजानुभूति हो तो अभिव्यजनावादी भाव-व्यजना और वस्तु-व्यजना दोनो में काव्यत्व मानते हैं। उदाहरण केलिए हम एक उक्ति लेते हैं—'एक पत्ता भी नहीं हिलता है।' इस उक्ति का यथार्थ अभिप्राय क्या है, यह अभिधा और लक्षणा से स्पष्ट नहीं होता। व्यंजना वाले कई प्रतिबधों १ पर ध्यान देकर कहेंगे, यह आर्थी व्यजना है और इसका अर्थ 'हवा नहीं चलती है,' है। हवा का न चलना वस्तु है और इसी की व्यजना की गई है। अभिव्यजनावादी वस्तु-व्यजना में भाव-व्यजना से कम काव्यत्व नहीं मानते। जो बात कलाकार की आध्यात्मिक सत्ता से सबध नहीं रखती, जो वस्तु मनोरंजक नहीं होती, जो हमारी रागात्मिका वृत्तियो पर प्रभाव नहीं डाल सकती, वह चाहे क्रोचे की सहजानुभूति हो, चाहे एडिशन की कल्पना हो, चाहे कालिदास की काव्य-कला हो, हमारे अतःकरण मे कोई संश्लिष्ट स्वतःपूर्ण चित्र

१ आर्थी व्यंजना में अर्थ की स्पष्टता केलिए वक्ता, बोधव्य, वाक्यार्थ का सन्निधान, सामीप्य, देश, काल, चेष्टा तथा प्रकरण पर ध्यान देना पड़ता है।

नहीं उपस्थित कर सकती। अतः भाव हो या वस्तु, उसकी व्यजना में कलाकार की मार्मिकता चाहिए। जितना काव्यत्व भाव-पक्ष मे होता है उतना विभाव-पक्ष में न रखने से समस्त काव्य का ही सौंदर्य नष्ट हो जायगा।

आचार्य शुक्ल के मतानुसार अभिव्यजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़कर केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़ कर चला है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित है कि अभिव्यजनावाद का थोडा-बहुत सबध अनुभूति प्रभाव तथा वाग्वैचित्र्य तीनों से है। विना अनुभूति के सहजानुभूति का होना ही असभव है। यहाँ अनुभूति और सहजानुभूति का अंतर स्पष्ट करने केलिए यह कहना आवश्यक है कि अनुभूति बाह्य जगत् के प्रभाव से उत्पन्न होती है और सहजानुभूति कल्पना का बोध-पक्ष है। कल्पना के मूल में अनुभूति का कितना हाथ है, यह उसके तत्त्व से परिचय रखनेवाले अच्छी तरह जानते हैं। इस रूप में यह बात सच्ची है कि अनुभूति को जितनी व्यापकता यहाँ मिली है उतनी क्रोचे के अभिव्यजनावाद में क्या, यूरोप के किसी साहित्यिकवाद में नहीं। प्रभाव के विषय में यही कहा जा सकता है कि जो सौंदर्य-विधान अच्छा होगा उसमें प्रभविष्णुता स्वतः आ जाती है। कलाकार की आध्यात्मिक सत्ता जिस सौंदर्य-विधान में सन्निहित रहेगी वह मनुष्य की रागात्मिका वृत्तियो को अपनी ओर आकर्षित किए विना नहीं रह सकता। अभिव्यजनावाद सौंदर्य-विधान से भिन्न नहीं है। अब केवल वाग्वैचित्र्य पर विचार करना है। वाग्वैचित्र्य अभिव्यंजनावाद का ध्येय नहीं, किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें वाग्वैचित्र्य

अभिव्यंजनावाद में अनुभूति, प्रभाव और वाग्वैचित्र्य का स्थान

केलिए स्थान ही नहीं है। यदि कलाकार का ध्यान केवल अपने कथन की विचित्रता में ही लगा रहे तो अवश्य ही वह काव्य न कर एक तमाशा खड़ा करेगा। क्लिष्ट कल्पित वक्रता सर्वथा निंदनीय है। स्वभावतः ही कथन में जो वक्रता उत्पन्न हो उसमें ही काव्यत्व मान सकते हैं, किंतु काव्यत्व की समस्त व्याप्ति इसी वक्रता में समझना बड़ी भूल होगी। मूल वस्तु में काव्यत्व नहीं रहता, उसकी सच्ची व्यंजना में काव्यत्व मानना चाहिए। अभिधा द्वारा सीधे कथन में काव्यत्व न मानकर व्यंजक वाक्य में उसकी अवस्थिति मानी जाती है। अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य को जितना स्थान मिला है उससे अधिक कलाकारों ने उसके नाम पर वाग्विस्तार किया है। वाग्वैचित्र्य हृदय की गभीर वृत्तियों से वस्तुतः संबंध नहीं रखता और इसी कारण यह चाहे भाव-पक्ष हो या विभाव-पक्ष, काव्य के नित्य स्वरूप के अंतर्गत नहीं लिया जा सकता। इससे केवल एक ही मनोवृत्ति का शमन होता है। वाद-विषयक जितनी रचनाएँ हैं उन्हें देखते हुए क्रोचे महोदय को भी आचार्य शुक्ल के शब्दों से सहमत होना पड़ेगा।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'योरप का यह अभिव्यंजनावाद हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है[१]।' अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य का कितना स्थान है, यह संक्षेप में पहले लिख आए हैं। वक्रोक्तिवाद का प्रधान लक्ष्य ही वक्रता-पूर्ण उक्ति है। दोनों मूलतः एक नहीं माने जा सकते और एक दूसरे से प्रभावित हुआ है, न यही कहा जा सकता है। दोनों की प्रकृति

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद

१ आचार्य शुक्ल के काव्य में रहस्यवाद पृ० ७१

में यूरोप और भारतवर्ष की प्रकृति की तरह असमानता है। वक्रोक्ति-वाद की प्रकृति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है,लेकिन अभिव्यजनावाद का वाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई सबंध नहीं है। अलंकार अनुगामी होकर अभिव्यजना के पीछे चल सकता है, बक्रोक्ति के साथ की भॉति सहगामी होकर नही । इसका कारण यह है कि वक्रोक्तिवाद का जन्म और विकास उसी वातावरण में हुआ है जहॉ बहुत दिनों तक अलंकार की तूती बोलती रही है। अतएव उसमें वैसे वातावरण के सस्कार का रहना सभव ही है। अभिव्यजनावाद में वक्रता-पूर्ण उक्तियों का तो मान है ही, साथ ही स्वाभावोक्तियों केलिए भी उसमें यथेष्ट स्थान है। जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम बिंब-ग्रहण हो वह वक्रता-हीन रहने पर भी अभिव्यजनावाद की चीज है। वक्रोक्तिवाद में स्वाभावोक्ति को स्थान नहीं दिया गया है। अभिव्यजनावाद के चित्रण में स्पष्ट तीव्रता रहती है। उसमें पाठक या श्रोता को बहुत सोचने–विचारने की जरूरत नहीं पड़ती। नग्न रूप से कुछ कह देने के काव्यत्व नहीं समझा जाता; साथ ही अपने भावो को अलंकार की तहो में लपेट कर दिखलाना भी उससे अधिक मूल्य नहीं रखता। अभिव्यजनावाद और बक्रोक्तिवाद में जितनी समानता है उससे कही विशेष विषमताएँ हैं।

मानवचरित्र का निर्माण

मनुष्य का चरित्र ही मनोवेगो के घात-प्रतिघात का परिणाम है। एक ओर हमारी व्यक्तिगत स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है और दूसरी ओर वृहत्तर सामाजिक शिष्टता। हमारी इच्छा, वासना, कामना, विचार आदि का समाज की रीति, परपरा, सभ्यता, कानून आदि से सदा संघर्ष होता रहता है। हम वही काम और उसी ढंग से कर सकते हैं जिसका

समर्थन समस्त नहीं, तो कम-से-कम उसका एक बड़ा अंश करे। समष्टि को छोड़कर व्यष्टि के प्रति भी हमारी यही परिस्थिति रहती है।' हमारे मन में जितनी भावनाएँ उठती हैं उन सब को बिना विचारे किसी व्यक्ति के समुख हम प्रकाशित नहीं कर देते। उनमें से कुछ भावनाओं को, जीवन की गति-विधि तथा नैतिकता पर विचार रखते हुए, चुन कर अभिव्यक्त करते हैं। अतएव मन में १ किसी भावना के उदित होते ही हम यह निश्चित करते हैं—किससे कहें, कैसे कहें, कब कहें? कभी-कभी जल्दबाजी में हम बिना सोचे-विचारे कुछ बोल जाते हैं। कभी अपने कथन के औचित्य तथा युक्तिपूर्णता पर हमें हर्ष होता है और कभी उसके

१ किसी शब्द के बोलने के पहले हमारे अंतःकरण में कितने व्यापार होते हैं, इस विषय पर पाठकों की जानकारी केलिए थोड़ा प्रकाश डालना अनुचित न होगा। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता-रहस्य में इस पर थोड़ा प्रकाश डाला है। जब हम कभी किसी परिचित व्यक्ति को देखते हैं तब उसे पुकारने की इच्छा होने पर हम झट कह उठते हैं—'मोहन!' इतने समय में ही अतःकरण में कई व्यापार हो जाते हैं। पहले हम अपनी आँखों से एक व्यक्ति को देखते हैं। फिर परिचय की स्मृति जगती है। मन के द्वारा यह सस्कार बुद्धि को प्राप्त होता है कि परिचित व्यक्ति को पुकारना चाहिए। बुद्धि की आज्ञा पाते ही मन में बोलने की इच्छा होती है और हमारी जिह्वा से अकस्मात् निकल पड़ता है—'मोहन!' पाणिनि ने शब्दोच्चारण-क्रिया का वर्णन इसी प्रकार किया है—'आत्मा बुद्धया समेत्याऽर्थान् मनो युक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मंद्रं जनयति स्वरम्।' —पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातों का आकलन कर मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है और जब मन कायाग्नि को उसकाता है तब कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। तदनंतर वह वायु छाती में प्रवेश कर मंद स्वर उत्पन्न करती है।

अनौचित्य और अनुपयुक्तता पर पश्चात्ताप। इस प्रकार जिस बात को हम 'रामप्रसाद' से कह सकते हैं उसी को 'शिवप्रसाद' से नहीं कह सकते। प्रत्येक व्यक्ति केलिए हमारे मन में अलग-अलग भाव और भिन्न-भिन्न विचार रहते हैं और इन्हीं से प्रेरित होकर हम कुछ कहते या करते हैं। इसी तरह जन-समाज के प्रति भी हम वही विचार प्रकट करते हैं जो हमारी प्रकृति और सभ्यता के संघर्ष-से उत्पन्न होता है। काव्य-रचना भी हमारे इसी संघर्ष का परिणाम है। हमारी रचना में कहीं हमारी प्रकृति विशेष लक्षित रहती है, कहीं सामाजिक शिष्टता और कही दोनों। इसी प्रयत्न के कारण काव्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद का विधान किया जाता है। कला दोनो प्रकार के वादी केलिए सुरक्षित है। अभिव्यजनावाद में किसी एक वाद का पक्षपात नहीं है।

अनुभव और निर्णय—प्रभाववादी समीक्षा की समीक्षा

पारस्परिक बातचीत या किसी वाद-विवाद में जब हमारे मत एक-दूसरे से भिन्न होते हैं तब इसका कारण विशेषतः यह नहीं होता कि हमारे अनुभव भिन्न-भिन्न हैं, बल्कि उस विषय के हमारे निर्णय ही परस्पर विरोधी होते हैं। अभिव्यजना और कला की समीक्षा के सबध में भी यही बात है। कोई भी सच्चा समीक्षक किसी विषय की समीक्षा में केवल अपने आतरिक प्रभावों की व्यजना नहीं करता, प्रत्युत अनुभव और अनुमान के आधार पर अपने समान अन्य मनुष्यो की प्रकृति के साथ अपनी प्रकृति का सामजस्य रखता है। यदि ऐसा न हो तो उसकी समीक्षा आत्म-कथा से अधिक महत्त्व नहीं रख सकती। मनोविज्ञान की दृष्टि से रुचि-वैचित्र्य होना बहुत संभव है, पर समीक्षा में केवल इसकी

प्रधानता नहीं रहनी चाहिए। प्रभाववादी (Impressionist) समीक्षा में मानव प्रकृति के इस सामजस्य को महत्व नहीं दिया गया है। इसी कारण उस प्रकार की समीक्षा लोकोपकारिणी नहीं सिद्ध हो सकी। काव्य-रचना की प्रगति को बढाने केलिए विशुद्ध व्यक्तिगत समीक्षा सर्वथा सामर्थ्य-हीन प्रमाणित हुई है। अपनी आत्म-कथा में भी मनुष्य अपने चरित्र को लोक-व्यवहार में प्रदर्शित करता है, फिर समीक्षा केलिए तो यह नितांत आवश्यक है कि वह मानव प्रकृति का पूर्ण सामजस्य रखे। यदि समीक्षा निरपेक्ष हो तो कला का विधान भी वैसा ही क्यों न हो जिससे कलाकार को यह कहने का अवसर मिले—मैंने मानव-जीवन और लोक-रुचि का तिरस्कार कर नए ढग से कला-निर्माण किया है। जगत् की उपेक्षा की मुझे चिंता नहीं। ऐसे कलाकार की प्रशसा करने केलिए कोई तत्पर हो या न हों, ब्रेडले महोदय तथा डटन साहब अवश्य ही ऐसे कलाकार की पीठ ठोक देंगे।

वस्तु और विधान-विधि का महत्त्व

अभिव्यजनावाद के ऊपर वस्तु-हीनता का जो आक्षेप किया जाता है उसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। अभिव्यजना केलिए वस्तु आवश्यक है, यह भी प्रतिपादित हो चुका है। मानव प्रकृति की यह विलक्षणता है कि वह सदा अपने आनद के प्रयत्न में व्यस्त रहती है। हम कभी वस्तु को महत्त्व देते और कभी विधान-विधि या रचना-शक्ति को और कभी दोनों को। अपनी प्रेमिका का प्रेम-पत्र पाकर कोई प्रेमी उसमें शैली की सौष्ठव या रचना की निपुणता नहीं खोजता। उसमें उसे जो कुछ मिल जाता है उसी के प्रभाव से उसके हृदय में भावों का एक नया विश्व बन जाता है।

हमारे प्रशसा करने के मूल में ही किसी वस्तु का महत्त्व छिपा रहता है। स्पिनोजा (Spinzoa) ने इसका स्पष्टीकरण इस तरह किया है कि किसी वस्तु को उत्तम समझ कर हम नहीं चाहते, बल्कि हम उसे चाहते हैं इसी कारण वह उत्तम है। उत्तम और मध्यम का प्रश्न उपयोगितावाद का है और जीवन से अलग रह कर उपयोगितावाद का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। प्रेमिका के प्रेम-पत्र या छोटे भाई या बहन के स्नेहपूर्ण पत्रो में विशेषतः हम यही देखते हैं कि उन पत्रों में उनका हृदय किस रूप में प्रकट हुआ है और इस कार्य में हम अपनी कल्पना से बहुत सहायता लेते हैं।

रचना-नैपुण्य का महत्त्व

रचना-शक्ति या अभिव्यजना के विषय में कवींद्र रवींद्र के शब्दो में १ यह समुचित रूप से कहा जा सकता है—केवल अभिव्यक्त करने की लीला से ही प्रकाशित की गई रचनाएँ साहित्य में अनादृत नहीं हुईं। उनके द्वारा मनुष्य केवल अपनी क्षमता को व्यक्त कर आनंद-दान करता है, यह बात नहीं; किंतु किसी भी उपलक्ष्य के द्वारा एक मात्र अपनी अभिव्यक्ति के साथ खेल कराने में उसे जो आनद मिलता है वह हमारे हृदय के भीतर एक बड़े आनंद को संचारित कर देता है। .... 'साहित्य के जो उपकरण हैं, साहित्य के राज्य में उनका मूल्य कम नहीं है। इसी कारण बहुधा केवल भाषा का सौंदर्य, केवल रचना की निपुणता भी साहित्य में आदर प्राप्त करती है।' उपर्युक्त कथन वस्तुतः बहुत महत्त्व का है। गद्य कवि बाणभट्ट की 'कादंबरी' जिस विशाल काय में है उसका दशमाश ही

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुरः साहित्य (साहित्य और सौंदर्य) पृ० ७८

शायद कथा-वस्तु हो, किंतु कलाविद् बाणभट्ट ने अपने अभिव्यंजना-कौशल से उसी को कितना बृहत् मनोरम बना दिया है। शायद ही किसी रसिक पाठक का जी उससे ऊबे। श्रीहर्ष के नैषध महाकाव्य का कलेवर भी अभिव्यजना-कौशल के सहारे ही बढा है। कथा—विन्यास को हम आविष्कार कह सकते हैं, किंतु अभिव्यजना या चरित्र-चित्रण सपूर्णतः कलाकार की अपनी सृष्टि है। सृष्टि का अर्थ नई वस्तु को उत्पन्न करना नहीं है; प्रत्युत अव्यक्त वस्तु को व्यक्त करना है। रामायण और महाभारत की कथाओ तथा उप-कथाओ के आधार पर बहुत से काव्य, नाटक आदि की रचनाएँ हुई हैं, परंतु हम उन काव्य, नाटक आदि को, मूल कथानको की जानकारी रखने पर भी, कलाकार के अभिव्यजना-कौशल से आनद उठाने केलिए बड़ी उमगों के साथ पढते हैं। अभिव्यजना के भीतर ही कलाकार यथार्थ रूप से जीवित रहता है, भाव और कथा-वस्तु में नहीं। यही अभिव्यजना काव्य की वास्तविक सृष्टि है। पुनः यदि हम कवींद्र रवींद्र के शब्दो में कहें तो कह सकते हैं कि 'भाव, विषय और तत्त्व साधारण मनुष्यों के भी होते हैं। उन्हें यदि एक मनुष्य बाहर नहीं करता तो काल-क्रम से कोई दूसरा करेगा, किंतु रचना लेखक की सपूर्ण रूप से अपनी होती है। वह एक मनुष्य की जैसी होगी दूसरे की वैसी नहीं होगी १।' यही कारण है कि हम किसी एक ही बात केलिए एक से दूसरे की अधिक प्रशसा किया करते हैं। कलाकार केवल अपनी कला का ही विधान नहीं करता, प्रत्युत कला के उपलक्ष्य से वह अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है। व्यक्तित्व की भिन्नता ही कला-निर्माण के भेद का निरूपण करता है।

१ रवींद्रनाथ ठाकुर: साहित्य, पृ० १२

अभिव्यंजना को भाव-प्रकाशन की शैली मानकर चलने से उसमें कलाकार के व्यक्तित्व की खोज करनी पड़ेगी। कथा-वस्तु तथा जीवन-वृत्त दोनों दो भिन्न चीजें हैं। मनुष्य पूर्ण रूप से कभी अपने को व्यक्त नहीं करता। कितने काव्यकारो की जीवनियो तथा दंत कथाओ से यह पता चलता है कि जितना द्वंद्व उनके जीवन में रहा उतना उन्होंने अपने काव्यो में अंकित नहीं किया और जितना काव्यों में व्यक्त किया उतनी विषमता उनके जीवन में रही नहीं। अपने नाटकों में शेक्सपियर ने बहुत हत्याएँ की हैं, पर उन्होंने अपने जीवन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक भी हत्या की हो, ऐसा हम नहीं जानते। बाल्मीकि, तुलसी, सूर आदि के आरंभिक जीवन की दंत-कथाओ में जिस क्रूरता, जिस मूर्खता और जिस विलास-प्रियता के वर्णन किए जाते हैं उन्हें हम उनकी रचनाओं में खोजने पर भी नहीं पाते। अब इन कथाओ का आध्यात्मिक तत्त्व इस प्रकार समझा जाता है कि बाल्मीकि ने अपनी रचना में क्रूरता के बदले कृपालुता, कालिदास ने मूर्खता के बदले विदग्धता और तुलसी तथा सूर ने विलास-प्रियता के स्थान पर राम और कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रदर्शित की है।

कलाकार के व्यक्तित्व की अपूर्ण अभिव्यक्ति



तीसरा अध्याय

रसानुभूति का तत्त्व

सौंदर्य और आनंद

सौंदर्य-भावना और आनद में जो भेद बताया जाता है वह सर्वथा निर्विवाद नहीं है। आनद को प्राप्त कर हम अपनी इद्रिय और मनोवेग को तृप्त करते हैं, परतु सौंदर्य की भावना के समय हम अपने सामान्य स्तर से कुछ ऊपर चले जाते हैं। हमारा मनोवेग शांत हो जाता है और हम अपने को उस भावना की उपलब्धि से ही कृतार्थ समझते हैं, वस्तु-प्राप्ति की इच्छा नहीं करते। यदि ऐसा करें तो सौंदर्य की सत्ता पर निजत्व या उपयोग की कामना का आवरण पड़ जायगा और उसकी विशुद्धता उसी क्षण नष्ट हो जायगी। अपने व्यक्तित्व को भूलकर ही सच्ची सौंदर्योपासना हो सकती है। अपनी प्रेमिका सब को अच्छी लगती है, चाहे उसमें सौंदर्य का अभाव ही क्यों न हो। हृदय का भाव सौंदर्य के अभाव को अज्ञात रूप से इस प्रकार पूरा कर देता है कि प्रेमी को अपनी प्रेमिका की असुदरता खटकती ही नहीं। भाव में परिवर्त्तन होते ही सौंदर्य का अभाव झलकने लगता है। अतएव जो स्वार्थ-सधान का विषय है वह सौंदर्य की शुद्ध भावना को उद्भूत नहीं कर सकता। भावुक और कुशल कलाकार पर्वत-श्रेणी के लता-द्रुमों को चीरती हुई, चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करती हुई निर्झरिणी को प्यासे की तरह नहीं देखता, लावण्यमयी ललना के विभ्रम-विलास को इद्रिय-लोलुप की भाँति नहीं निहारता। यदि वह ऐसा करे तो उसके वर्णन में कला का शुद्ध रूप अकित नहीं हो सकता।

हमारे प्राचीन साहित्य मे प्रेमी-प्रेमिका के चित्राकण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वे सब निजत्व के आकर्षण या विलास की भावना के वशीभूत होकर ही चित्रित किए गए हैं। किसी प्रेमी की तूलिका से अंकित चित्र दूसरे का मनोरजन ठीक उसी प्रकार नहीं कर सकता। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि चित्र-दर्शन से हृदय की विकल भावनाओ को बहुत कुछ सात्वना मिलती है। उसका चित्र कला की कोटि में न आने पर भी वह अपने हार्दिक भावों से कला की न्यूनता को पूरा कर लेता है। यदि प्रेमी कुशल चित्रकार है तो वह अपनी प्रेमिका का चित्र इतने अलौकिक तथा सुदर ढंग से अकित करेगा कि वास्तविकता उससे बहुत दूर जा पड़ेगी। सत्य की कृपणता विख्यात है, अतः उसकी दृष्टि में कला में भावों का न्यूनाधिक्य क्षम्य नहीं हो सकता।

सौंदर्य में निजत्व

सौंदर्य-भावना और काव्यानुभूति में मूलतः कुछ भेद नहीं है। शुद्ध सौंदर्य-भावना ही काव्यानुभूति की जननी है। निजत्व की जिस संकीर्णता का, ऊपर की पक्तियो में, हम उल्लेख कर चुके हैं उसमें थोड़ी-सी विशालता होते ही वह काव्यानुभूति प्रस्तुत कर सकती है। निजी भाव का साधारणीकरण ही काव्योपयुक्त होता है। 'किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयो को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य, गाम्भीर्य आदि भावनाओ का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से संबध रखनेवाले नहीं होते, मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढने या सुननेवाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भाव या भावनाओ का थोडा या बहुत अनुभव कर

काव्यानुभूति और साधारणीकरण

सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहा 'साधारणीकरण' कहलाता है १।' जो भाव समष्टि से अपरिच्चित रहकर विकसित होता है वह काव्य में स्थान पाने का अधिकारी नहीं। जो व्यक्ति हमारे लिए क्रूर है उसमे हम सौंदर्य का दर्शन नहीं कर सकते। दूसरों केलिए वह भले ही काम-देव की मूर्त्ति हो, किंतु हमारे लिए वह कुछ नहीं के बराबर है। इस का कारण यही है कि सौदर्य यथार्थतः हमारे हार्दिक भावो का ही प्रतिबिंब है। क्रूर के व्यक्तित्व से यदि हमारे भावों का अभिनदन हो जाय तो वही फिर हमारे लिए परम सुदर बन जायगा। किसी व्यक्ति में सौंदर्य-तत्त्व के रहते हुए भी हम केवल अपनी घृणा या क्रोध के आरोप के कारण उसको तिरस्कृत कर देते हैं। इसी भॉति जो व्यक्ति हमारे लिए बहुत कृपालु है उसमें सौंदर्य-तत्व के अभाव पर भी हम सुदरता पाते हैं। यही व्यष्टि-प्रधान भाव काव्यानुभूति के अनुकूल नहीं पड़ता। जो हमारे लिए क्रूर या कृपालु है वह यदि समस्त मानव समाज केलिए, सार्वभौम रूप से, क्रूर या कृपालु हो जाय तो इसी वृत्त पर विश्व-काव्य का निर्माण हो सकता है। यदि काव्य की रचना किसी एक ही व्यक्ति केलिए की जाती तो उसमें भावों के साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं थी, परतु काव्य की रचना एक केलिए नहीं होती। उसका लक्ष्य समस्त मानव समाज की सामान्य मानवता के प्रति निर्दिष्ट रहता है। इसी कारण उसमें भावो का ऐसा विधान किया जाता है जिससे एक नहीं, सभी मनुष्य प्रायः समान रूप से उन

१. आचार्य रामचंद्र शुक्लः साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद (द्विवेदी अभिनदन ग्रथ) पृ० १४८

भावों को हृदयगम कर सकें।

काव्यानुभूति और रसानुभूति

काव्यानुभूति और रसानुभूति मे तात्त्विक दृष्टि से थोड़ा भेद बताया जा सकता है। काव्यानुभूति की स्थिति विशेष रूप से कलाकार में मानी जाती है और रसानुभूति की स्थिति पाठक या श्रोता में। इसका यह तात्पर्य नहीं कि काव्यानुभूति पाठक को नहीं होती या कलाकार रसानुभूति से वंचित रहता है। दोनो एक ही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक में विधायक कल्पना की अपेक्षा रहती है और दूसरे में ग्राहक कल्पना की। काव्य की अनुभूति होने पर ही कलाकार अपने काव्य की सृष्टि में तत्पर होता है और पाठक या श्रोता को जब तक उसमें रसानुभूति हो तब तक उसके लिए काव्य की सज्ञा ही व्यर्थ है।

काव्य में जातीयता

काव्य की विश्वात्मक अनुभूति के नीचे जातीयता का स्थान है। सस्कृति, सभ्यता तथा अन्य किसी कारणवश जो अनुभूति देश के बाहर स्थान नहीं प्राप्त कर सकती वह देश-व्यापी होने पर जातीय काव्य में स्थान पा जाती है। राम और कृष्ण के नाम में जो पावनता का भाव एक हिंदू हृदय में हो सकता है वह किसी ईसाई में सम्भव नहीं। हिमालय के गर्वोन्नत शिखर को देख कर किसी भारतीय कवि के हृदय में जिस भाव की सृष्टि हो सकती है वह यूरोप के कवि में शायद ही। गंगा की निर्मल धारा के प्रति जैसी अगाध श्रद्धा एक हिंदू प्रकट कर सकता है वैसी ससार की कोई अन्य जाति नहीं कर सकती। इस प्रकार के भाव जात्यतर्गत तथा देश से सीमित होने के कारण वस्तु-रूप में समस्त मानव समाज के अनुकूल नहीं पड़ते। ऐसे भावों में जहाँ

कहीं जीवन के शाश्वत सत्य का साधारणीकरण किया जाता है वहीं वे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं। भावो की उत्तरोत्तर उदारता तथा विशालता से उनका क्षेत्र भी उसी परिमाण से बढता जाता है। अपने दुख पर आँसू बहाना सभी जानते हैं, पर दूसरो केलिए जो कष्ट सहते हैं वे ही बृहत्तर मानव समाज की श्रद्धा का उपभोग करते हैं। जो बात जीवन-पक्ष में मान्य और सत्य है वह काव्य-पक्ष में अमान्य और असत्य नहीं हो सकती।

संस्कार का आवरण

हमारे जीवन के चारो ओर एक ऐसा वातावरण रहता है जिसके बाहर जाना सब केलिए सरल नहीं। उस वातावरण की पुष्टि हमारे जातीय महाकाव्यो से बराबर होती रहती है। यदि हमारे सामने आरभ से ही रामायण तथा महाभारत-जैसे महाकाव्य न होते तो हमारे संस्कार और प्रकृति में एक उल्लेखनीय अतर रहता। हमारी कल्पना, भाव, विचार की शैलियाँ इतनी निर्दिष्ट हो गई हैं कि इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ढग से सोचना भी हमारे लिए कठिन हो गया है। हमारे प्रत्येक विचार और कार्य का प्रेरक अलक्ष्य रूप से यही वातावरण है। कभी-कभी हम अपने ऊपर पड़नेवाले प्रभाव का कारण भी बता नहीं सकते। उसी काव्य से हमारा मनोरजन हो सकता है जिसमें हमारी रागात्मिका वृत्तियाँ अपना आश्रय पा सकती हैं। यदि किसी रूप-चेष्टा के प्रति हमारी कोई सहानुभूति नहीं, यदि हमारे चित्त पर उसका कुछ प्रभाव नहीं तो किसी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की शक्ति नहीं —चाहे वह क्रोचे की सहजानुभूति हो, एडिसन की कल्पना हो या महाकवि कालिदास की काव्य-कला हो—कि वह हमारे अतः-करण में कोई सश्लिष्ट स्वतःपूर्ण चित्र उपस्थित कर सके।

वाल्मीकीय रामायण मे मेघनाद की मृत्यु से हमारे मन में विषाद की सृष्टि नहीं होती, वरन् उससे हर्ष ही उत्पन्न होता है; चलो,

सस्कार और रसानुभूति

रामानुज लक्ष्मण पर साघातिक आक्रमण करनेवाले शत्रु से छुट्टी मिली, किंतु माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद की हत्या पढकर चित्त एक सशय में पड़ जाता है। देव-पूजा में निरत निःशस्त्र मेघनाद की अन्याय-पूर्ण हत्या पर हमारी अनुकपा जगती है। हम रावण पर पड़ी हुई विपत्ति के प्रति समवेदना दिखाकर उसी के आँसू में रोना चाहते हैं, लेकिन उसी समय हमारा सस्कार कह उठता है, अरे, यह क्या करते हो! दुश्मन की मृत्यु पर अश्रुपात! सशय उत्पन्न होते ही रस-भग हो जाता है। रसानुभूति केलिए हृदय की सशय-पूर्ण स्थिति उपयुक्त नहीं होती। उसके लिए हृदय की विकार-रहित स्थिति आवश्यक है। महाकवि मिलटन के "पैराडाइज लास्ट' में जिस समय हम खुदा के दुश्मन शैतान की पीड़ा-यंत्रणा देखते हैं उस समय भी हमारी दशा बहुत-कुछ इसी प्रकार हो जाती है। पर अतर इतना ही रहता है कि इसमें रामायण की तरह हमें सस्कार से अधिक सहयोग नहीं मिलता। ईश्वर के प्रति हमारे हृदय में जो पूज्य भाव है वही उनके प्रति हमारी समवेदना को उभाड़ता है, पर द्विविधा में हमारा चित्त उसी समय पड़ता है जब शैतान के दर्प, तेज और वीरत्व के समुख हमारा पूज्य भाव पराभूत

सद्गुण का महत्त्व

हो जाता है, क्योकि सद्गुण का महत्त्व ही ऐसा होता है। ईश्वर से द्रोह करने केलिए हम शैतान की चाहे जितनी निंदा करें, परंतु उसके कष्ट सहने की क्षमता की प्रशसा भी हमें करनी ही पड़ती है। शैतान के मुँह से हमें ऐसे वचन सुनने को मिलते हैं जिनकी सत्यता पर कोई सदेह कर ही

नहीं सकता। १ प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक शैंड के मतानुसार प्रत्येक भाव, विचार का अलग-अलग मूल्य होता है। सबको एक साथ मिलाकर देखने से भावो का यथार्थ महत्त्व नहीं मालूम पड़ता। इश्वर-द्रोह के कारण शैतान के सब सद्गुणो को भूल जाना ऐसी ही बात है। रावण, कुंभकर्ण, मेघनाद, दुर्योधन, शकुनि आदि के दुर्गुणो के प्रति हम अपनी विरक्ति भले ही दिखावें, किंतु उनकी थोड़ी-सी विशेषताओं के साथ भी हमारा हृदय योग देता है। एक लेखक सहस्रो पाठको के प्रतिनिधित्व का काम करता है। अपने काव्य में वह क्रोध, घृणा, शोक, उत्साह, हास आदि की जैसी व्यजना करता है। तदनुकूल ही पाठक उन सब भावों का अनुभव करते हैं। पर, इस प्रकार के प्रतिनिधित्व का काम सरल नहीं हैं। रसों के मनोवैज्ञानिक विवेचन से यह बात प्रकट हो जाती है कि वैसे ही भावो के साथ पाठको का हृदय सहयोग कर सकता है जो उनकी हार्दिक वृत्तियो के अनुकूल पड़ते हो। ऐसा नहीं होने पर वह पाठकों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। उसका सारा काव्य केवल भाव-प्रदर्शक ही रहेगा, विभाव-विधायक नहीं हो सकता।

१ What though the field be lost ?
All is not lost the unconquerable will,
And Study of revenge, immortal hate,
And courage never to submit or yield,
And courage never to be overcome ?
And waht is else not to be overcome ?

× × ×

Here for his envy, will not drive us hence
Here we may reign secure, and in my choice.
To reign is worth ambition, though in Hell.
Better to reign in Hell, than serve in Heaven.
—Milton's Paradise Lost, Bk. 1, ll. 105-109 and 260-263

रसानुभूति के अयोग्य कथानक

रोम के पिशाच तथा नृशस सम्राट् नीरो की कथाएँ बहुतो ने सुनी होगी। वह अपने आनद के लिए गॉवो में आग लगवा देता था। बूढो, बच्चो और स्त्रियो को वहॉ से निकल कर भागते देख पुनः पकड़वा कर उन सबको उन्हीं भट्टियों में झोकवा देता था। खूँखार जंगली जानवरो को पिजड़े में बदकर उसमें निरपराध व्यक्तियो को घुसा देता था। इस प्रकार लोगो को रोते, चिल्लाते और तड़पते देखकर वह आनद से हँस-हँसकर तालियॉ पीटता था। ऐसे दृश्य-वर्णन के प्रति काव्य का श्रोता या पाठक नीरो के आह्लाद का कभी योग न देगा। इसके विपरीत नीरो की नृशसता तथा हृदयहीनता पर वह क्रोध, क्षोभ और घृणा से तिलमिला उठेगा। काव्यकार यदि यह चाहे कि जनता नीरो के आह्लाद में योग-दान दे तो वह भी उसी के समान-नृशस समझा जायगा और यदि वह यह चाहे कि नीरो की अमानुषिकता पर जनता—पाठक या श्रोता—अपना क्रोध व्यजित करे तो यह उचित हो सकता है। ऐसी नीचता के प्रति अधिकाश श्रोताओ या पाठकों के हृदय में क्रोध की भावना विशेष उत्तेजित न होकर घृणा का उद्रेक होगा। हमारे कहने का तात्पर्य नही कि ऐसे कठोरता-पूर्ण दृश्य से भी मनुष्यो के मन में क्रोध उत्पन्न न होगा, बल्कि क्रोध व्यजित होकर शीघ्र ही घृणा में पर्यवसित हो जायगा। क्रोध को स्थायित्व नहीं मिलेगा। क्रोध सक्रिय होता है और घृणा निष्क्रिय। नीरो के अपराध से पाठक का क्रोध उद्दीप्त होगा, पर उसकी नीचता पर पाठको का ध्यान विशेष रूप से जायगा और ऐसे नीच मनुष्याकार पशु से हजार बार पाठक अलग रहना पसद करेंगे। स्वभाव की विलक्षणता से कोई क्रुद्ध होकर नीरो की हत्या करने को तत्पर हो जाय, कोई घृणा

से अपनी आँखें फेर ले, कोई शोकाभिभूत होकर अश्रुपात करे और सभव है, कोई उस दृश्य को शाति-पूर्वक देखने का धैर्य भी रखे। भिन्न-भिन्न स्वभावो का आलबन एक ही होगा।

प्रकृति-वैचित्र्य और आलंबनत्व धर्म

प्रकृति की इतनी विभिन्नता होते हुए भी काव्यकार को केवल सामान्य प्रकृति का ही विचार रखना पड़ता है। सामान्य प्रकृति के धर्म के आधार पर उठे हुए विशेष की व्यजना से जो रसात्मकता प्रतीत होगी वह सर्वथा स्पष्ट रहेगी। व्यक्ति प्रत्येक दशा में विशेष ही बना रहेगा, पर उसके आलबनत्व धर्म का सामान्य प्रकृति के आधार पर चित्रण करना पड़ेगा। पाश्चात्य काव्य-दृष्टि में रसवाद की अपेक्षा चमत्कारवाद का ही अधिक विचार किया जाता है। केवल कल्पना के बल से निर्मित पात्र मे वह विशेपता नहीं आ सकती जो भाव के आधार पर आ सकती है। भाव सामग्री है और कल्पना रूप-योजना। रसानुभूति केलिए भाव की अनुकूलता होनी चाहिए, कल्पना को अनुकूल बनाने में कठिनता नहीं होती।

काव्य में वर्णित चरित्र के सुख-दुख के साथ हम अपने हृदय की वृत्तियों का सामजस्य रखते हैं। कभी प्रसन्नता से हॅसते, कभी चिंता से विह्वल होते और कभी दुख से रोते हैं। वर्णित

काव्यगत पात्र के साथ तादात्म्य

आश्रय की प्रत्येक स्थिति के साथ हम तादात्म्य का अनुभव करते हैं। यह तादात्म्य विशेपतः उसी पात्र मे होता है जिसके प्रति काव्यकार अशतः भी पक्षपात करता है। जो पात्र कुछ ऐसे कारणों से दुख झेल रहा है जो हमारी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं, उसके लिए हमारे हृदय में अनुकपा का भाव जाग्रत् नहीं होता। शील-सद्गुण के रहते हुए जो कष्ट सहता है उसके प्रति हमारे हृदय में बड़ी ऊँची भावनाएँ उठा करती हैं। हम उसे शीघ्र ही कष्ट-मुक्त देखने की अभिलाषा

रखते हैं। इस प्रकार की भावनाएँ साधारणीकरण से ही उठती हैं।

बाह्य और काव्यगत प्रभाव

बाह्य जगत् में सुख-दुख के संश्रव को देखकर हमारे चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उससे और काव्यगत चरित्र के प्रभाव में अतर है। एक का आवेग दुर्दम्य होता है और दूसरे का कोमल तथा मधुर। बाह्य जगत् मे हम एक प्रकार की परवशता का अनुभव करते हैं। अपनी चेष्टा से हम भले ही विपत्ति का पहाड़ अपने सिर पर ले लें, किंतु सुख के प्रति हमारा आग्रह सफल ही होगा,यह अनिश्चित ही रहता है। काव्य में हमें इसी प्रकार की विषमता का आभास नहीं होता। सुख की ओर तो मानव प्रकृति अग्रसर होती ही है, काव्य मे हम करुणा की जिज्ञासा भी करते हैं। वास्तविक क्रुद्ध व्यक्ति और क्रोध के अभिनेता के भावों में जो मौलिक भेद है वही विश्व की विषमता और काव्यगत चरित्र के प्रभाव में है। सीता १ और शकुतला २ के निष्ठुर प्रत्याख्यान से हमारा चित्त सतप्त होता है फिर भी हम उन्हें चाव से पढते हैं। अज के विह्वल विलाप ३ से हमारा हृदय विदीर्ण होता है, पर हम उसे छोड़ते नही। रति के अजस्र अश्रुवर्षण ४ के दृश्य की कल्पना भी हम अपने मन से नहीं हटाते। काव्य-कला में हमारे हृदय की वृत्तियाँ इतनी निमग्न हो जाती हैं कि हम कला के स्वरूप को ही वस्तु-स्थिति समझ लेते हैं। ऐसे वर्णनों से ही रस-दशा लाई जाती है। यही हृदय की मुक्त अवस्था है।

१. भवभूतिः उत्तररामचरितम्
२. कालिदासः अभिज्ञान शाकुंतलम्
३. कालिदासः रघुवंशम्
४. कालिदासः कुमारसंभवम्

मनुष्य मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपनी चित्त-वृत्ति के अनुकूल आलंबन पाकर ही अनुकंपा प्रदर्शित करता है। जो व्यक्ति जैसा ही शील-संपन्न, निरपराध, निराश्रय रहता है उसके प्रति हमारी सहानुभूति भी वैसी ही बढ़ी-चढ़ी रहती है। सहानुभूति के आलंबन में जो विशेषताएँ रहती हैं उनसे तो हम विमुग्ध हुए ही रहते हैं, उसके विरोध के औचित्य को भी विचार-पूर्वक देखने का धैर्य नहीं रख सकते। शकुंतला-प्रत्याख्यान के समय शकुंतला की विपत्ति से घबड़ा कर सभी दुष्यंत को दोष देते हैं, किंतु उसके चरित्र की एक विशेषता की ओर से लोग आँखें मूँद लेते हैं। शकुंतला के मादक सौंदर्य को देखकर भी शाप-ग्रस्त दुष्यंत ने धर्म-बाधा समझ कर उसे नहीं अपनाया। हम यह जानते हैं कि दुष्यंत विलासी और इंद्रिय-लोलुप था, क्योंकि थोड़ी देर पहले ही हंसपादिका के संगीत को सुनकर विदूषक ने राजा से इसका तात्पर्य पूछा। दुष्यंत ने मृदुल हास से कहा—सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः—इस देवी को हम ने एक ही बार प्रणय कर त्याग दिया है। संभव है, इस प्रकार की अनेक देवियाँ सकृत्कृत प्रणय वाली हों। फिर भी जहाँ चरित्र का उत्कर्ष मालूम हो-वहाँ उसे भूल जाना समुचित नहीं। बात सच्ची यह है कि शकुंतला की कोमल और मधुर आशा पर इतना तुषारपात हुआ कि उस घने कोहरे के बीच हमें केवल उसका विदीर्ण हृदय ही याद रहा, दुष्यंत के हृदय की उच्चता को देख नहीं सके। शकुंतला की विमुग्ध सरलता का चित्र हमने पहले ही देख लिया था और इसके साथ पतिगृह-गमन के समय यह भी जान लिया था कि पतिगतप्राणा शकुंतला अपने हृदय में कितने अरमानों को रखकर राजराजेश्वर

चित्त-वृत्ति और अनुकंपा

पति के पास जा रही थी। यदि उसके प्रति हमारे हृदय में काव्यकार ने पहले ही इतना ममत्व न भर दिया होता तो निराश शकुंतला केलिए हम उतनी अनुकपा कहाँ से लाते!

जब हम किसी वीर रस-पूर्ण वर्णन को सुनते हैं तब नायक की वीरता से प्रभावित होकर हमारा हृदय भी ओज तथा उत्साह से

रस-व्याघात का परिणाम

भर जाता है। प्रत्येक क्षण उसके उत्तरोत्तर वीरत्व से हम अपनी नसों में एक अभिनव शक्ति का अनुभव करते हैं। ज्योंही हमारी आशा के क्रम में व्याघात पहुँचता है, अर्थात् नायक की वीरता पर अनपेक्षित निरुत्साह का आक्रमण हो जाता त्योंही हमारी उत्तेजित नसो में इतनी शिथिलता आ जाती है कि हम थक-से जाते हैं। दौड़ते-दौडते एक गड्हे में गिर पडते हैं! करुणा के व्याघात पर भी हमें वैसा ही क्षोभ होता है। तुलसीकृत रामायण में सीताहरण के उपरात राम के विदग्ध विलाप को सुनकर हम कितने विह्वल हो जाते हैं! वृक्ष से, लता से, मोर से, हिरण से किस आत्मीयता का अनुभव होता है! वे केवल राम के ही नहीं, हमारे भी सहचर-से बन जाते हैं। चराचर विश्व को करुणा से कपित करने वाले राम के इस हृदय-द्रावक विलाप—

'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।'

को सुनकर उनके प्राणसशयमय विषाद के प्रति हमारा मानस कितना अनुकपित होकर व्यथित हो जाता है! इसी समय ज्योंही हम सुनते हैं—

'एहि विधि खोजत विलपत स्वामी, मनहुँ महाविरही अतिकामी।
पूरन काम राम सुखरासी, मनुजचरित कर अज अविनासी॥'

—त्योंही हमारी सारी अनुकंपा, समस्त विषाद निराधार हो जाता है। हमारे शरीर का ताप निकल कर कवि के प्रति क्षोभ का प्रदर्शन करता है। धोखे में किसी छद्मवेषी राजा को तुच्छ दान देकर मन में जिस प्रकार लज्जा होती है उसी प्रकार सर्वांतर्यामी राम के प्रति अपनी करुणा का वैभव लुटा कर हम धोखा खा जाते हैं। रसानुभूति केलिए इस प्रकार का व्यतिक्रम बहुत ही अनुचित है। रस-परिपाक की भूमि पर पहुँचते ही रस-भंग हो जाता है। विप्रलंभ शृंगार का जो प्रभाव हमारे हृदय में धीरे-धीरे व्याप्त हो रहा था वह एक क्षण में ही नष्ट हो जाता है। रस-परिपाक केलिए घटना-क्रम का पूरा सामंजस्य आवश्यक है।

रसानुभूति केलिए भाव तथा विभाव दोनो का सामंजस्य रखना पड़ता है। केवल विभाव से भी रस की अनुभूति हो जाती है।

तादात्म्य और शील-दर्शन

सामान्यतः काव्यकार अपने पाठक या श्रोता के हृदय में जिस रस की प्रतीति कराना चाहता है कभी-कभी उसकी प्रतीति बहुत संयम और कठिनता से होती है। काव्यकार ने भाव-व्यंजना केलिए जो आलंबन निश्चित किया है उसके साथ सहानुभूति और आश्रय के साथ कुछ तादात्म्य रखते हुए पाठक या श्रोता अपने स्वतंत्र भाव को महत्त्व दे देते हैं। पर इस प्रकार के तादात्म्य केलिए जितना संयम काव्यकार चाहता है उतना पाठक या श्रोता रख नहीं सकते। लोक-हृदय की सब वृत्तियों को परितुष्ट करने से काव्यकार अपने विशेषत्व का निर्वाह नहीं कर सकता। ऐसे अपरितुष्ट भाव की अनुभूति के समय पाठक या श्रोता आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं रख सकते, अपनी स्थिति अलग ही रखते हैं। पाठक या श्रोता की यह स्थिति केवल शील-द्रष्टा के

रूप में ही नहीं रहती; वे अपने आलंबन की आकाक्षा को कार्य-रूय में परिणत देखना चाहते हैं। कौरव की राज-सभा में पाँचों वीर पाड्वों के साम ो ही जिस समय निरपराध कुलागना द्रौपदी को दुःशासन केश पकड़ कर लाता है और बड़ी निर्लज्जता के साथ उसकी साड़ी खींच कर नगी करना चाहता है उस समय भीम, अर्जुन आदि की मुखाकृति पर दृष्टिपात करने से यह विषय स्पष्ट हो जाता है। द्रौपदी बार-बार अपने पतियों को उत्तेजित कर अपनी दुर्दशा का अत कराना चाहती है। युधिष्ठिर जुए में हार कर मुँह लटकाये बैठे हैं। भीम आवेश में आकर होठ चबा रहे हैं। प्रतिक्षण वे अपने बड़े भाई की ओर देखते हैं,आज्ञा मिले तो कौरव की राज-सभा को नष्ट-भ्रष्ट कर दूँ, पृथ्वी को रसातल पहुँचा दूँ! पाडवों की बलिष्ठ नसों में गरम खून का उबाल आ रहा है। कौरव दल घमड से हँस रहा है, गुणवती पतिव्रता द्रौपदी कभी भीम की ओर आतुर होकर देखती और कभी अर्जुन की तरफ करुणा-पूर्ण दृष्टि फेरती है। पाडवो के ऊपर ऐसा धर्म-बंधन डाल दिया गया है कि वे टस-से-मस नहीं हो सकते। इस परिस्थिति में महाभारतकार ने जितना सयम और धैर्य से काम लिया है उतेना पाठक या श्रोता में प्रायः संभव नहीं। वे इस समय यह सोचते हैं, पाडव अपने प्रचड विक्रम से बात-की-बात में कौरव-सभा को छिन्न भिन्न कर सकते हैं, फिर यह दारुण अपमान क्यों? भीम यदि अपनी गदा लेकर दुःशासन की जाँघ उसी समय चूर-चूर कर देते तो अधिकांश पाठकों या श्रोताओं की सहानुभूति उन्हें प्राप्त हो जाती। जैसा दृश्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है उससे पूरा तादात्म्य नहीं होता। रस-दशा में लाए जाकर पाठक या श्रोता वहीं तक नहीं रह जाते।

भाव और विभाव दोनों के साथ तारतम्य रखते हुए वे कुछ ऐसी भाव-व्यंजना भी करना चाहते हैं जो काव्य में वर्णित भाव से पूरी संगति नहीं रखते। वे झुँझला कर युधिष्ठिर पर अपना क्षोभ प्रकट करते हैं। जब श्रीकृष्ण ने अपनी अलौकिक शक्ति से आर्त्त द्रौपदी की लज्जा का निवारण किया तब पाठक या श्रोता को वह उद्वेग तो नहीं रहता, किंतु सच्ची शांति भी प्राप्त नहीं होती। उनका हृदय करुणा, क्रोध, घृणा आदि भावों को छोड़कर विस्मयादि भावों से भर जाता है। जिसने बेचारी द्रौपदी की लाज रखी उसने केवल इतना ही क्यों किया? दुर्योधन, शकुनि और दुःशासन की हड्डियों को क्यों न चूर-चूर कर दिया। धर्म का स्वरूप ही वह कैसा, जिसके कारण आँखों के सामने विवाहिता स्त्री नग्न की जाय। ऐसे दृश्य में पूरी रसानुभूति न होकर पाठक या श्रोता बहुत-कुछ अपरितुष्ट ही रह जाते हैं।

धर्म और पाप के चित्रण का परिणाम

पूर्वीय और पश्चिमीय काव्य-दृष्टि का सब से प्रधान अंतर यही देखा जाता है कि पूर्वीय में पहिले धर्म का महान रूप चित्रित किया जाता है, पर पश्चिमीय काव्य में पाप के विराट् रूप की योजना ही आरंभ में उपस्थित की जाती है। रामायण में राम का शील-सद्गुणपूर्ण चित्र पहले अंकित किया गया है और रावण के पाप-पूर्ण दुर्दांत विक्रम का पीछे। मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' के पहले खंड में ही शैतान के जिस प्रचंड पराक्रम का वर्णन किया गया है उससे स्वभावतः ही पाठकों का चित्त उस ओर विमुग्ध तथा आकर्षित होने लगता है। धर्म के विरोधियों का इतना विशाल चित्र उपस्थित करने से एक हानि यह होती है कि पाठकों के हृदय में उनके लिए अवश्य ही कुछ सहानुभूति हो जाती है,

लेकिन इसके साथ धर्म के पक्ष में एक लाभ भी है। उज्ज्वलता को प्रमाणित करने का आधार अंधकार के सिवा कुछ हो ही नहीं सकता। प्रतिद्व द्वियों के पारस्परिक पराक्रम का महत्त्व एक-दूसरे से सन्नद्ध है। धर्म के विरोधियों का आकर्षक चित्रण इस कारण विशेष बुरा है कि उनके—जैसे रावण और शैतान के—चरित्र से हमें विशेष विरक्ति नहीं होती, बल्कि उनके प्रचड बल-विक्रम और अद्भुत रण-कौशल से हमारा कुछ मनोरजन ही हो जाता है। काव्यकार जो प्रभाव हमारे चित्त पर डालना चाहता है वह नहीं होता, वरन् इसके विपरीत धर्म-विरोधियों के महत्त्व के सामने हम झुक-से जाते हैं। यह स्थिति न तो रस-भग की है, न रसाभास की, यह एक मध्यम कोटि की रसानुभूति है जिसका विवेचन रस-निरूपण-पद्धति में अच्छी तरह नहीं किया गया है। हम उनके भावो में लीन तो नहीं होते, पर उनके कुछ भावो, विचारों, क्रियाओ का अनुमोदन हृदय से कर देते हैं। प्रायः सभी रसो में अलौकिकता की सृष्टि कर प्राकृत को अतिप्राकृत बना दिया जाता है। ऐसा करने का कवि का यह अभिप्राय रहता है कि पाठक या श्रोता पर उसके भावों का प्रभाव स्थायी रह सके। जब तक प्राकृत के नियम पर अतिप्राकृत का चित्रण न होगा तब तक मनुष्य के हृदय पर रसात्मक प्रभाव न डाल कर वह आश्चर्य तथा कौतुक को ही उद्दीप्त करेगा।

प्राकृत और अतिप्राकृत

न्याय या निर्णय करने केलिए शम की प्रधानता आवश्यक है। न्याय के पहले हमारे हृदय मे भाव पैदा होता है जो किसी घटना की सूचना पाते ही अपना सत् या असत् का निर्णय सुना देता है। इस निर्णय से न्याय का क्या संबध रहता है, यह पीछे घटना की जाँच-पड़ताल करने पर मालूम होता है। किसी

न्याय और दया

की हत्या का समाचार सुनकर हम अचानक कह उठते हैं—आह! यह अनर्थ हो गया! पीछे संभव है, वह हत्या न्याय्य समझी जाय, किंतु हम उस समय की प्रतीक्षा नहीं करते। न्याय और दया के स्वरूप में जो भिन्नता समझी जाती है वह वस्तुतः वैसी नहीं है जैसी बाहर से देख पड़ती है। दोनों के विश्लेषण से पता लगेगा कि दया के भाव को जीवित रखने केलिए ही न्याय का विधान किया गया है। जो प्रत्येक स्थिति में दया का कोमल स्वरूप ही देखना चाहते हैं वे वास्तव में दया के तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। काव्य में वर्णित कभी किसी दुःशील पात्र के प्रति भी, यदि विषम परिस्थितियों के साथ उसके कार्यों का सामंजस्य दिखाया जाय तो, हमें थोड़ी सहानुभूति हो जाती है। इसी कारण सभ्य पुरुष मूर्ख और दुर्बोध मनुष्य को अपने क्रोध का पात्र न बना कर दया का पात्र ही समझते हैं। जिन परिस्थितियों में रह कर उस पात्र ने कोई कुकर्म किया है उन्हीं परिस्थितियों मे रह कर कोई दूसरा व्यक्ति यदि उस कुकर्म से बच सकता है तो हमारी दया का स्वरूप पहले पात्र के प्रति थोड़ा कठोर हो जाता है। ऐसी स्थिति में हमे कैसी रसानुभूति होती है, यह शेक्सपियर

करुण और घृणा की अनुभूति

की एक नायिका के संबंध की घटना से बहुत-कुछ स्पष्ट हो जायगा। डेस्डिमोना एक पति-परायणा स्त्री है। किसी ने उसके मूर्ख और निर्बो। पति ओथेलो से डेस्डिमोना के दुश्चरित्र होने की बात कह दी। इस बात की जाँच किए बिना ही वह अकांड तांडव करने पर तुल गया। डेस्डिमोना ने कहा—मेरे स्वामी, मुझे घर से निकाल दो, पर जान से मत मारो।

ओथेलो—दूर हो, कलंकिनी!

डेस्डिमोना—अच्छा, कल मुझे जान से मार डालना, आज केवल

रात—भर केलिए जीने दो ।
ओथेलो—नहीं, तुम्हारा यह कहना व्यर्थ है ।
डेस्डिमोना—लेकिन आध घंटा भी ।
ओथेलो—हो गया । अब रुकना असंभव है ।
डेस्डिमोना—बस, केवल एक ईश-प्रार्थना कर लेने दो ।
ओथेलो—बहुत देर हो गई ।

[वह गला दबाकर मार देता है] १

इस हृदयद्रावक हत्याकांड को देख कर रोम रोम सिहर उठते हैं ! आँखों में आँसू आता है, पर करुणा के विकास केलिए यथेष्ट अवकाश ही नहीं मिलता । जिस प्रकार ओथेलो ने अपनी अनुरक्ता नारी को भ्रमवश दुश्चरित्र समझ कर एक क्षण भी जीने न दिया उसी प्रकार शेक्सपियर ने इस जघन्य व्यापार का दृश्य दिखला कर हमारी करुणा को विकसित होने का क्षण भर भी अवसर न दिया । हमारे हृदय में निरपराध डेस्डिमोना केलिए पर्याप्त करुणा है, पर उससे कहीं विशेष उसके निर्मम हत्यारे ओथेलो के प्रति घृणा का भाव है ।

उपर्युक्त भावों का विवेचन

अब उपर्युक्त घटना पर ही एक बार स्थिर होकर विचार करना चाहिए । ओथेलो का अपनी पत्नी पर क्रोध करना किस दृष्टि से अक्षम्य है और किस विचार से क्षम्य । निरपराध नारी का वध करना एक गर्हित अपराध है, पाप है । इस वृत्त पर हमारे मन में एक आवेग उठता है, हम तत्काल कह देते हैं, ओथेलो अपराधी है, किंतु सर्वत्र मन के आवेग से काम नहीं चलता । हमारे हृदय में डेस्डिमोना

१ Shakespear Othello.

केलिए जितनी करुणा सचित होगी उतना ही ओथेलो के प्रति क्रोध, तिरस्कार, घृणा का भाव उद्दीप्त होगा। एक भाव दूसरे पर आश्रित है। यदि हम पहले से यह न जानते होते कि डेस्डिमोना निर्दोष है, पति-परायणा है तो उसके लिए हमारे हृदय में सुकुमार भावनाओ की सृष्टि ही न होती। हम भी ओथेलो के कार्य का अनुमोदन करते और अपनी भूल पर उसी समय पश्चात्ताप या विलाप करते जिस समय ओथेलो ने अपनी अरनुक्ता देवी की हत्या पर हृदय के समस्त भावो को थोडे मे ही व्यक्त किया है। वह अपरिसीम वेदना है। डेस्डिमोना हमारे हृदय के अत्यत समीप उस समय हो जाती है जिस समय उसकी वह बात याद आती है जो उसने अपनी मृत्यु को सनिकट देखकर ओथेलो से कहा था—'मेरे देव, मैं अपनी मृत्यु के भय से नहीं कॉप रही हूँ; मैं यह सोचकर दुख से विह्वल हो रही हूँ कि मेरे मरने के बाद जब तुम्हें यह मालूम होगा कि मैं कितनी निर्दोष तथा पति-परायणा थी तब तुम्हें कितना घोर दुख होगा।' इस बात से हमारी करुणा डेस्डिमोना केलिए बहुत बढ जाती है और इसी अनुपात से ओथेलो पर हम अपना क्रोध, क्षोभ, घृणा आदि प्रकट करते हैं।

पहला पक्ष

इस सारे आख्यान का एक दूसरा पक्ष भी है। सत्य निर्लेप होता है, पर उससे उत्पादित ज्ञान को हम सदा विशुद्ध नहीं मान सकते। ज्ञान-सचय के समय कभी-कभी हम अपने मनोवेग, सस्कार, विचार-हीनता से प्रभावित होकर वैसी बातो को भी स्वीकृत कर लेते हैं जो सत्य के सिद्धांत के अनुकूल नहीं रहतीं। मनुष्य का हृदय शम-प्रधान नहीं

दूसरा पक्ष

है, अतः हमारा निर्णय सदा मनोवेग के अनुकूल ही रहता है। ह्यूम का कहना है कि तर्क बराबर मनोवेग का अनुगामी बना रहता है। वह हमारी भावनाओं को पुष्ट करने में विशेष तत्पर रहता है। यदि ऐसा न हो तो ससार मे कोई कार्य असगत नहीं हो सकता। मनोवेग के समुख तर्क निस्तेज हो जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने दुर्दम्य मनोवेग से प्रेरित होकर किसीकी हत्या करने चुपचाप जाता है तब वह रास्ते में सोचता है, क्या यह अच्छा है? कहीं पकड़ न जाऊँ! उसके परिजन को कितना दुख होगा? परतु उसकी कुप्रवृत्ति शिर पर सवार होकर कहती है—तर्क-वितर्क छोड़ो, अपना काम करो। हत्या तुम्हें करनी पड़ेगी। इस स्थिति मे रखकर ओथेलो का एक बार फिर न्याय करना चाहिए। ओथेलो ने जिस परिस्थिति मे पड़कर अपनी पुण्यात्मा पत्नी की हत्या की वह एक अवश्यभावी व्यापार है। इस हत्या के विना नाटक का मेरुदड ही टूट जाता है। यदि ओथेलो को अपनी पत्नी की सच्चरित्रता पर विश्वास होता तो यह घटना ही न उपस्थित होती। वह अपनी पत्नी के कलक की बात सुनते ही पागल हो उठा; उसका मनोवेग इतना प्रवल हो गया कि वह अपने को शात न रख सका, हत्या कर बैठा। बहुत सभव है, कोई दूसरा व्यक्ति भी अपनी परिणीता पर अविश्वास कर ऐसा ही कुछ कर दे। अपने प्रेम की वस्तु पर दूसरे का हस्तक्षेप देखकर मन में स्वभावतः क्रोध का भाव उठता है। ओथेलो ने यही समझ कर पतिव्रता डेस्डिमोना—अपनी भूल से कलकिनी डेस्डिमोना—की हत्या कर दी। उसने आवेश में ऐसा किया, अन्यथा उसके निर्वोध हृदय में भी प्रेम केलिए स्थान था। इन सब बातों पर विचार करने से ओथेलो के प्रति हमारा जो क्रोध,तिरस्कार,

घृणा आदि के भाव हैं वे धीरे-धीरे शात होने लगते हैं। हम समझते हैं, मनुष्य अतर्यामी नहीं है। उसने दूसरे के बहकावे में पड़कर अपनी प्राण-स्वरूपा नारी की हत्या कर स्वयं अपने शिर पर ही विपत्ति, वेदना, पश्चात्ताप का दुर्वह बोझ लादा है। यह सोचकर हम उसके कुछ पक्षपाती हो जाते हैं, अपने हृदय में उसके लिए थोड़ी सहानुभूति भी रख लेते हैं। डेस्डिमोना हमारे लिए वही डेस्डिमोना बनी रहती है। उसके संबंध में हमारे भावो मे कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

दोनों पक्षों का विवेचन

इन दोनो दृष्टियो से रसानुभूति का तत्त्व निश्चित करना चाहिए। रस-परिपाक केलिऐ आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण तथा वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य होना आवश्यक है। पहली दृष्टि में हम निरपराध डेस्डिमोना पर किए गए क्रोध, अत्याचार, घृणा, हत्या का कदापि समर्थन नहीं कर सकते। वेचारी डेस्डिमोना की स्थिति से हमारा तादात्म्य हो जाता है। हम उसी के शब्दो में हत्यारा ओथेलो से कहते हैं—जान मत लो, रात-भर भी जीने दो। थोड़ी देर ईश्वर की याद कर लेने दो। किंतु कठोर ओथेलो कुछ सुनता नही, वह जैसे हमारी गर्दन को ही पकड़ कर मरोड़ देता है। करुणा की अनुभूति से हमारा हृदय भर जाता है, पर ज्योंही हम ओथेलो को देखते हैं, हम घृणा से आँखें फेर लेते हैं। रसानुभूति केलिए यही प्रथम दृष्टि अच्छी है। दूसरी दृष्टि से इस हत्याकाड को

तात्कालिक रसानुभूति

देखने केलिए पाठक या श्रोता धैर्य और शाति नहीं रख सकते। नाटक या प्रबध काव्य में हमारे सामने घटनाओं के घात-प्रतिघात आते जाते हैं और हम तदनुकूल ही अपने मन में रसों का अनुभव करते चलते हैं। किसी दृश्य को देखकर या काव्य में किसी

घटना को पढ़कर हम, उस समय निष्कप रहकर, किसी घड़ी के बाद उस भाव से अपने आप को अनुभव कराना पसद नही करते। सच्ची बात यहाँ पसंद से भिन्न है। वास्तव में हम अपने मन पर अधिकार ही नहीं रख सकते। जिस समय जो घटना हुई उसी समय हमारे मन में दुख-सुख के कुछ-न-कुछ विकार का उत्पन्न होना निश्चित है। कुछ काल के बाद या समय-समय पर हम अपने मन में जो कुछ सोचते हैं वह विचार है, रसानुभूति नहीं।

मस्तिष्क और चेतना का सबध एक परिचित घटना से स्पष्ट हो सकता है। जब हम किसी पुस्तक को पढ़ते हैं तब तत्काल ही हमारी चेतना मे उसका भाव आता और विपर्यस्त हो जाता है। यही भाव जब बार-बार उपस्थित होता है तब वह विचार रहता है[१]। रसानुभूति केलिए भाव चाहिए, विचार नहीं। दूसरी दृष्टि से ओथेलो का थोड़ा पक्षपात हम विचार और तर्क से ही करते हैं। अतः रस के विषय में इसका कुछ महत्त्व नहीं।

भाव और विचार

काव्य का आधार केवल बाह्य सौंदर्य पर ही अवलम्बित नहीं है, उसमे हृदय की अतर्वृत्ति का विश्लेषण ही मुख्य है। जो भाव विस्तृत जन-समाज के हृदय के साथ सामंजस्य रखता है उसी से काव्य मे यथार्थ सौदर्य का विधान किया जाता है। काव्य ही एक ऐसा स्थल है जहाँ घृणा, क्रोध, उपहास, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि में भी सौंदर्य है। बाह्य सौदर्य पर ही लुभानेवाले मूढ होते हैं। अंतर्वृत्ति का सौंदर्य ही काव्य का प्राण है। शबरी की भक्ति-प्रवण सहृदयता जानकर क्या कभी कोई पाठक या

अंतर्वृत्ति का सौंदर्य

१. John Dewey Experience and Nature, (First Series Lecture) p 305.

श्रोता यह जिज्ञासा कर सकता है कि उसकी आँखें कमल-सी थीं या नहीं, उसकी नाक सुग्गे की चोंच की तरह थी या नहीं, उसके शरीर का रग चपा-फूल की तरह था या नहीं? शवरी के हृदय को पाकर उसके शारीरिक सौंदर्य की जिज्ञासा ही नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार पचबटी में अनेक हावभाव और अलंकार से सुसज्जित होकर आई हुई सूर्पनखा केलिए किसी के हृदय में कोमल भावनाओं को सृष्टि नहीं होती। जहाँ बाह्य और अतःसौंदर्य का समिलन है वहाँ काव्य की भावना अत्यत ही ऊँची रस-भूमि पर पहुँच जाती है। रस की प्रतीति केलिए सौंदर्य-वर्णन में नायक या नायिका के कोमल और सुष्ठु भावों का चित्रण अवश्य ही रहना चाहिए।

सौंदर्य का परम उत्कर्ष हमें रसानुभूति से दूर ही रखता है। यह सौंदर्य चाहे बाह्य हो या चाहे आतरिक। अत-सौंदर्य का

अतिप्राकृत सौंदर्य और रसानुभूति

चित्रण इतना अतिप्राकृत ढग से न हो जिससे उसकी अलौकिकता या विरलता प्रतीति मे बाधक हो जाय १। बाह्य सौंदर्य के वर्णन में भी यही दृष्टिकोण अपेक्षित है। जब तक वर्णित सौंदर्य का आधार लौकिक नहीं रहेगा तब तक उसमें रस-सचार की पूरी क्षमता नही आ सकती। बिहारी की एक नायिका का वर्णन—

१. यहां एक अँगरेज समालोचक की बात हमे याद आती है। उसने रामायण और महाभारत की प्रासंगिक आलोचना करते हुए लिखा है कि इन महाकाव्यों में अलौकिक क्रोध, अलौकिक क्षमा, अलौकिक रण-कौशल आदि वर्णित है, इसलिए वे विश्वसनीय नहीं हो सकते। इस कथन पर हमें कुछ कहना नहीं है। यह संस्कृति और सभ्यता का अतर है। पर, काव्य मे वस्तुतः बात-बात में अलौकिकता-प्रदर्शन से रस-हानि होती है, यह मानना पड़ेगा।

'सूधे पाइ न धर परै सोभा हीं कैं भार'—पढकर कोई रसात्मक अनुभूति नहीं होती। ऐसी नायिका हमारी शृंगारिक भावना को परितुष्ट नहीं कर सकती। इससे आश्चर्य या कुतूहल ही बढ़ता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि अद्भुत भी तो एक रस है, फिर उसकी रसात्मक अनुभूति क्यो न होगी। इसका उत्तर यही है कि बिहारी की नायिका हमारी शृंगारिक भावना को ही परितुष्ट करने केलिए वर्णित की गई है, विस्मय के आलबन के रूप में नहीं। जो रसानुभूति अभीष्ट नहीं है उसकी प्रतीति रस-भग, रस-विरोध, रस-हानि, रसाभास का ही उदाहरण हो सकती है। बिहारी की नायिका शृंगार रस से तो अलग हो ही गई है, अद्भुत रस की अनुभूति भी वह नहीं करा सकती। उक्ति-वैचित्र्य से ही अद्भुत रस का परिपाक नहीं हो सकता। जब तक मूल वस्तु में किसी प्रकार की विचित्रता नहीं रहेगी तब तक केवल उक्ति-वैचित्र्य से अद्भुत रस का अनुभव नहीं कराया जा सकता। इसी उक्ति-वैचित्र्य के भ्रम मे पड़कर रस और अलंकार के कितने आचार्यों ने सूरदास के—'अद्भुत एक अनूपम बाग'—पद को अद्भुत रस का उदाहरण लिखा है। वास्तव में यह नख-शिख-वर्णन है और शृंगार रस का शुद्ध उदाहरण है।

वैचित्र्य का साक्षात्कार

आचार्य रामचद्र शुक्ल ने अपने निबध में १ वैचित्र्य के साक्षात्कार से तीन प्रकार के रसानुभव की चर्चा की है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पाश्चात्य दृश्य काव्यों में शील-वैचित्र्य की ओर प्रधान लक्ष्य रहता है और भारतीय आचार्यों का ध्यान तादात्म्य और साधारणीकरण की

१. रामचंद्र शुक्ल: साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद (द्विवेदी अभिनंदन ग्रथ) पृ० १५२।

ओर विशेष रहता है। वैचित्र्य से आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, आश्चर्यपूर्ण अवसादन और कुतूहल-मात्र हो सकते हैं। जहाँ शील का चरम उत्कर्ष या सात्विक आलोक का साक्षात्कार होता है वहाँ पाठक या

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन

श्रोता को आश्चर्यपूर्ण प्रसादन होता है। राजा हरिश्चंद्र का डोम की नौकरी करते हुए श्मसान में अपनी दुखिया रानी शैब्या से रोहिताश्व के अग्नि-संस्कार केलिए आधा कफन माँगने के दृश्य से, नागानंद नाटक में जीमूतवाहन का भूखे गरुड़ से अपना मांस खाने केलिए अनुरोध करने के दृश्य से ऐसे शील-वैचित्र्य का साक्षात्कार होता है जिससे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शीलवालों की भाव-व्यंजना में मनुष्य का हृदय लीन हो सकता है। जहाँ शील के अत्यंत पतन या तामसिक

आश्चर्यपूर्ण अवसादन

घोरता का साक्षात्कार होता है वहाँ आश्चर्यपूर्ण अवसादन का अनुभव होता है। यदि किसी काव्य या नाटक में ऐसे पात्र का वर्णन किया जाय जो मनुष्य के रोने, चिल्लाने, तड़फने के दृश्य से अपने आह्लाद की व्यंजना करे तो उसके आह्लाद में किसी पाठक या श्रोता का योग देना संभव नहीं है। वैसे पात्र की दुःशीलता और विचित्रता से मनुष्य के हृदय में आश्चर्य-मिश्रित विरक्ति, घृणा, तिरस्कार का भाव ही उत्पन्न होगा। इन दोनों प्रकार के शील-वैचित्र्य के सिवा एक ढंग का और भी शील-वैचित्र्य बताया जाता है जिसके साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होता है न स्पष्ट अवसादन, एक प्रकार का मनोरंजन या कुतूहल ही

कुतूहल

होता है। इस प्रकार की प्रकृति के चित्रण को डंटन (T W Dunton) ने कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि का सूचक और काव्य-कला का चरम उत्कर्ष कहा है। आचार्य शुक्ल

ने डंटन की इस निरपेक्ष दृष्टि या नूतन निर्माणवाली कल्पना की संक्षिप्त मीमासा की है। विषयातर के भय से हम यहाँ उसकी समीक्षा नहीं करते।

रसानुभूति के स्वरूप

काव्य में रसानुभूति के दो स्वरूप लिए जाते हैं। एक तो कवि अपनी काव्यानुभूति का चित्रण करते हुए रस की प्रतीति कराता है और दूसरे केवल विभावों का चित्रण कर रसोद्रेक केलिए पाठक या श्रोता को अपनी भावना पर छोड़ देता है। रस-निरूपण-पद्धति में बाह्य प्रकृति को आलंबन नहीं बनाया गया है, वह केवल उद्दीपन के रूप मे ही वर्णित की गई है। संस्कृत काव्य मे कहीं-कहीं बाह्य प्रकृति का चित्रण आलंबन के रूप में हुआ है जिसका आश्रय कही तो कोई पात्र रहता है और कहीं स्वय कवि। हिंदी काव्य में ऐसे वर्णन नहीं मिलते हैं। नायिका-भेद की परपरा चल पड़ने के कारण बाह्य प्रकृति को उद्दीपन विभाव के कार्य से छुट्टी ही न मिली।

व्यक्ताव्यक्त भाव

जब मनुष्य का हृदय रति, शोक, हास, क्रोध, भय आदि भावो से भरा रहता है तब उन भावों का समस्त अंश कभी व्यक्त नही होता। कुछ व्यक्त होता और कुछ अव्यक्त ही रह जाता है। जो अंश अव्यक्त रहता है उसका अस्तित्व भाव-जगत् से सदा केलिए विलीन नहीं हो जाता। अव्यक्त रहने से ही उसकी मार्मिकता बढ़ जाती है। जो व्यक्त होता है वह अपने स्वरूप का परिचय पाठक या श्रोता से तो करा ही देता है, अव्यक्त की ओर मार्मिक संकेत कर देता है जिससे पाठक या श्रोता अपने हृदय के भीतर भावो की एक उमड़ती हुई लहर पा जाते हैं। यदि काव्यकार हृदय के

समस्त भावो का एक-एक कर वर्णन करने लगे तो यह कार्य भली-भाँति स्वाभाविक रीति से सपन्न होना कठिन है और सब से बड़ी हानि इसमें यही है कि ऐसे भाव-प्रदर्शन से पाठक या श्रोता को आनद नहीं मिलता। अपनी भावना का लाभ वह नहीं उठा सकता। आधुनिक रसज्ञो की यह एक विशेषता है कि वे भाव-विश्लेषण से अधिक भाव-सकेत के आनंद का ही उपभोग करते हैं १। इसके स्पष्टीकरण केलिए दो उदाहरण देना आवश्यक मालूम पड़ता है।

भाव-सकेत

अभिज्ञान शाकुंतलम् में शकुंतला के चरित्र की जो विशेषता कालिदास ने दिखाई है वह बहुत-कुछ भाव-सकेत पर ही निर्भर करती है। शकुतला-दुष्यत के प्रणय-व्यापार के उपरांत दुष्यत के राजधानी चले जाने के बाद शकुतला के मुख से कवि ने व्यर्थ ही वियोग की कारुणिक उक्तियो से पाठकों का हृदय नहीं हिलाया है। शकुंतला के हृदय का समस्त भाव केवल एक ही घटना से व्यक्त हो गया है। वह अपने पति की चिंता में निमग्न थी और कोप-सुलभ दुर्वासा ऋषि भिक्षा न पाकर उसे शाप दे गए। राजा दुष्यंत ने जब भरे दरबार में शकुतला का प्रत्याख्यान कर दिया तब यदि कालिदास चाहते तो शकुंतला के मुख से उसके हृदय का विषाद श्लोक-के-श्लोक रचकर व्यक्त कर सकते थे, पर वहाँ भी परिमित शब्दो मे ही शकुतला के हृदय की वेदना व्यक्त हुई है। स्वर्ग से लौटने के बाद मरीचि के आश्रम मे जब शकुतला और

१ ... . it is the evident characteristic of mordern genius to study and enjoy expression,—the suggestion of the notgiven,—rather than form, the harmony of the given.
—George Santayana: The Sense of Beauty, p-174.

दुष्यंत से भेंट हुई है तब सर्वदमन के राजा दुष्यत का परिचय पूछने पर शकुतला ने केवल इतना ही उत्तर दिया—अपने भाग्य से पूछो। इसी उत्तर में उसके हृदय का समस्त भाव, पति का अन्याय, दैव का अत्याचार आदि सब, समिलित हैं। ये सब ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि चाहते तो विषाद की व्यजना में अपनी लेखनी सरपट दौड़ा सकते थे, पर कवि ने सयम से काम लिया। शकुतला के विषाद की ओर सकेत-मात्र कर दिया है और इतने से ही मानव के हृदय में करुणा का स्रोत बहने लगता है। भवभूति ने अपने उत्तर-रामचरित में राम से सीता का प्रत्याख्यान कराकर भाव-सकेत से बहुत कम काम लिया है। उन्होंने राम के हृदय की प्रायः सब भावनाएँ पाठकों के आगे रख दी हैं। राम के अंतःकरण का कोना-कोना वे झाँक गए हैं। पाठकों के अनुमान केलिए बहुत थोडा अवसर रखा है। उत्तर रामचरित के तीन अंक तो केवल आँसू बहाने में ही खर्च कर दिए गए हैं। हृदय के प्रत्येक भाव का विश्लेषण कर उन्होंने अपने श्लोकों को सजाया है। इतना होने पर भी यह कौन साहस कर कह सकता है कि कालिदास ने भवभूति से कम करुणा की धारा बहाई!

भाव-विश्लेषण

रसानुभूति के तत्त्व के सबध में जो मुख्य-मुख्य बातें थीं उनका सक्षेप में ऊपर विवेचन कर दिया गया है। रस की अनुभूति से मनुष्य अपने मन के अतिरिक्त तेज को बाहर निकालता है। इसका प्रयोजन केवल काव्य में ही नहीं है, जीवन की अनेक घटनाओं के कारण प्रतिदिन मनुष्य अपने मन के अतिरिक्त तेज का व्यय करता ही रहता है। इस पर अबतक साहित्य-शास्त्र में जितना विवेचन

रस का प्रयोजन और उसके नवीन ढंग से विवेचन की आवश्यकता

हुआ है यद्यपि वह कम नहीं कहा जा सकता तथापि अभी उस पर नवीन ढग से विवेचन करने की बड़ी आवश्यकता है। १ सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास से मनुष्य के भाव-जगत् में भी काफी परिवर्त्तन हुए हैं, अतएव उस पर आश्रित रहनेवाले रस के विवेचन में भी तदनुकूल परिवर्त्तन और परिवर्द्धन होना आवश्यक है।

---

१. इस विषय पर लेखक की 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत'—नामक पुस्तक में विशेष रूप में प्रकाश डाला गया है।

चौथा अध्याय

अलंकार और प्रभाव

काव्य के दो प्रधान पक्ष हैं, भाव-पक्ष और कला-पक्ष। अलंकार का प्रयोजन कला-पक्ष को पूर्ण करना है। भाव-पक्ष के उत्कर्ष के

प्राक्कथन

लिए जब तक कला-पक्ष का सौंदर्य न बढाया जायगा तब तक उसमें प्रभाव का आरोप नहीं किया जा सकता। किंतु इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि अलंकार के बिना भाव-पक्ष का उत्कर्ष व्यजित किया ही नहीं जा सकता। कला-पक्ष की व्याप्ति अलकार तक ही सीमित रखने से ऐसी बाधा खड़ी होती है, पर साधन को साधन मान कर चलने में ही काव्य की सार्थकता है। साधन को साध्य बनाने से उसका गौरव नष्ट हो जाता है। अलंकारों की प्रकृति पर दृष्टि रखते हुए यह कहना अयुक्तियुक्त नहीं कि वे भाव-प्रकाशन के भिन्न-भिन्न साँचे हैं।

काव्य के कथन केलिए दो प्रकार की युक्तियाँ काम में लाई जाती हैं। वर्ण्य वस्तु का वर्णन और अलंकार की सिद्धि केलिए कुछ

अलंकार का उद्देश्य

कहना। वर्ण्य वस्तु का वर्णन ही काव्य का मुख्य ध्येय है। हिंदी में बहुत दिनों तक केवल अलंकार की पुष्टि के निमित्त ही काव्य की रचनाएँ हुईं। काव्य पर इसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। अलंकार का मुख्य उद्देश्य है भाव को तीव्र करना। अलंकार की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि काव्य में हम किसी उक्ति-व्यंजना की पूर्णता और बोधगम्यता

पर ही ध्यान देते हैं; उसमें अलकारत्व नहीं खोजते। उपमा है या नहीं, उत्प्रेक्षा हुई या नहीं, रूपक का निर्वाह हुआ या नहीं, इन प्रश्नो को लेकर व्यर्थ की माथापच्ची नहीं करते। यदि काव्य के पाठक या श्रोता का ध्यान उक्ति की व्यजना से हटकर अलकार-निर्वाह की ओर जाय तो शायद यह कहने में किसी साहित्य-शास्त्री को आपत्ति न होगी कि काव्य का साध्य अलकार ही है। किंतु, काव्य की प्रवृत्तियो के सूक्ष्म विवेचन के समय हम मनोविज्ञान को पीछे छोड़ नहीं सकते। अलकारवाद की प्रधानता से काव्य का स्वरूप वोध के रूप में ही स्थिर किया जाने लगा, भाव या रस के रूप में नहीं। काव्य में चमत्कार-विधान केलिए अलकार का प्रयोजन है, इस बात को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता। साथ ही इस पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि काव्य में चमत्कार ही सब कुछ नहीं और न सर्वत्र चमत्कार दिखलाया जा सकता है। हिंदी के रीति-काल के कवियो ने व्यक्तियों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विशेषताओं तथा विचित्रताओं पर ध्यान न देकर काव्य को एक निर्दिष्ट शैली के अतर्गत ही रख अपने वाग्विस्तार, उपमा-कौशल, वर्णन-नैपुण्य का उपलक्ष्य बना दिया। वस्तु-विन्यास पर बहुत कम ध्यान देकर वर्णन के उपलक्ष्य-मात्र से भाषा पर व्यर्थ ही अलकारो का इतना बोझ डाल दिया गया जिससे उसकी प्राजलता नष्ट हो गई।

प्रसिद्ध अभिव्यंजनावादी क्रोचे ने अलकार को उक्ति से पृथक् नहीं माना। उसने अलकार-अलकार्य्य का भेद ही स्वीकृत नहीं किया। अलकार को भाव-प्रकाशन का चामत्कारिक अग मानने से वस्तु से स्वतः उसकी पृथकता प्रमाणित हो जाती है। अलंकार-मात्र में वक्रोक्ति या

क्रोचे और अलकार

अतिशयोक्ति की व्यापकता रहती है, यह प्रत्येक अलंकारवादी को मालूम है। अलकार की सार्थकता वस्तु से पृथक् रह कर ही भावोत्तेजन में योग देना है, परतु साहित्य-शास्त्र में अलकारों की सख्या इतनी अपरिमित हो गई कि अलग-अलग ढॉचे के रूप में अलंकारों का निर्वाह असंभव हो गया। इसका परिणाम यही हुआ कि अधिकांश अलंकार वस्तु से पृथक् न रह कर बिलकुल उसमें मिल गए। असम, अधिक, अनुमान, असंभव, उल्लेख, उदाहरण, उल्लास, उदात्त, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिंग, तिरस्कार, निश्चय, प्रत्यनीक, प्रतिषेध, परिसख्या, पर्याय, प्रहर्षण, भ्राति, भाविक, मुद्रा, युक्ति, लेश, लोकोक्ति, विप्सा, विरोध, विषादन, विकल्प, विशेषोक्ति, विचित्र, विधि, व्याघात, सम, समाधि, सहोक्ति, समुच्चय, सामान्य, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति, स्मरण, संदेह, हेतु आदि अनेक अलंकार वस्तु या भाव से अपनी पृथक सत्ता रखने में पूरे समर्थ नहीं हैं। वस्तु या भाव यदि स्वतः चमत्कृत है तो उसमें व्यर्थ ही अलंकारत्व का आरोप कर उसे श्रेय देने से लाभ नहीं। जो नायिका स्वयं रूपवती है उसके रूप का श्रेय दूसरे को नहीं मिल सकता। अलंकारों की उपर्युक्त सूची में, संभव है, कुछ ऐसे अलंकार भी हों जिन्हें वस्तु से पृथक् रखने का आग्रह किया जा सकता है, परंतु इसके साथ यह न भूलना चाहिए कि अलकारों ने केवल वस्तु पर ही अपना अधिकार नहीं जमाया, न्याय, काल, (Tense) वाणी और क्रिया के क्षेत्रों को भी अलंकारों ने अपना लिया है।

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अलंकार का प्रवेश

क्रोचे ने अलकार के संबध में जो कुछ कहा है वहीं हमारा मान्य नहीं हो सकता। हम अपने साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर

ही अलकारों की समीक्षा करना चाहते हैं। उक्ति में स्वाभाविक

उक्ति और अलंकार

रूप से मिला हुआ जो चमत्कार आ जाता है उसके लिए अलकार की सज्ञा अनुपयुक्त ही नहीं, उलझन को बढ़ाने वाली भी है। इससे क्रोचे के 'उक्ति ही काव्य है'—कथन का विरोध नहीं होता। काव्य में अलकार की स्थिति अनिवार्य मानी जाती तो क्रोचे का विरोध सभव था। अलकार को काव्य से पृथक् मानने में ही उसकी प्रतिष्ठा है। आचार्य मम्मट, कविराज विश्वनाथ आदि ने अलकार को काव्य का नित्य अग नहीं माना, किंतु जो नित्य नहीं है वह पृथक् भी रह सकता है, इस पर सस्कृत के आलंकारिकों ने विचार नहीं किया। अलकार का प्रधान उद्देश्य वस्तु का बोध-मात्र कराना नहीं हो सकता, 'भाव को तीव्र करने में कभी-कभी सहायक होने वाली योजना ही अलकार है' और उसका उद्देश्य स्पष्ट है। यदि वस्तु के बोध कराने में भी अलंकार की व्याप्ति मानी जाय तो साधारण-से-साधारण उक्ति में भी अलंकारत्व मानना पड़ेगा। अतिव्याप्ति-पूर्ण स्वभावोक्ति का क्षेत्र बिलकुल ही मुक्त कर देना पड़ेगा। सादृश्य-मूलक अलकार में बहुत थोड़े ऐसे हैं जिनमें चमत्कार या सौंदर्य की सत्ता पृथक् बताई जा सकती है। वाच्यार्थ के चमत्कार में ही वास्तविक अलकारत्व मानना चाहिए, जहाँ सादृश्य व्यग्य रहे वहाँ प्रायः वह वस्तु या भाव की अपनी सपत्ति है। उदाहरण केलिए उपमा को लीजिए। 'सीता का मुख चंद्रमा के समान सुंदर है', इस वाक्य में जो कुछ वह वाच्यार्थ है, लक्षणा और व्यंजना केलिए प्रकरण से भिन्न रहने पर इसमें थोड़ी भी गुँजाइश नहीं। सीता के मुख की सुंदरता वस्तु है और इसका बोध 'सीता का मुख सुदर है'

कहने से ही हो जाता है, किंतु अप्रस्तुत-विधान केलिए चंद्रमा को पकड़ कर वाक्य में बैठाना पड़ता है—सीता का मुख चद्रमा के समान सुदर है। इस प्रकार चंद्रमा को उपमान के रूप में रखने से इस वाक्य में एक अतिरिक्त सौंदर्य आ जाता है। इसी अतिरिक्त सौंदर्य-विधान को हम अलकार कहते हैं। सादृश्य-मूलक अलकार का एक दूसरा उदाहरण लीजिए। वन में हरिणी को हरिण के साथ उछलते-कूदते देखकर विरही राम को सीता की याद आई। आलकारिक निस्सदेह इसे स्मरणालकार कहेंगे। अब इस वाक्य की मीमासा कर देखिए, इसमें भागवत सौंदर्य ही है या कुछ अतिरिक्त भी। 'स्मरण' में सादृश्य व्यग्य रहता है और यहाँ राम और सीता का दांपत्य जीवन व्यग्य है। हरिण-हरिणी को देखकर सीता की याद आना, इस वाक्य का एक अपरिहार्य अग है। यदि इतना ही कहा जाय—विरही राम को सीता की याद आई—तो यथार्थ स्थिति का बोध नहीं होता, स्थिति और भाव की स्पष्टता केलिए इस वाक्य में हरिण-हरिणी का रहना आवश्यक है। यदि वन में राम हरिण-हरिणी को एकत्र न देखते तो, सभव था, उस समय उन्हें सीता की याद न आती। अतः इस वाक्य का कोई खड भाव-बोध की दृष्टि से निवार्य नहीं। अतिरिक्त सौदर्य नामक कोई वस्तु इस वाक्य में नहीं; जो कुछ है वह भावगत है। विषय को स्पष्ट करने केलिए इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण लीजिए। बलदेव सड़क पर पड़ी हुई रस्सी को साँप समझ कर भय से उछल पड़ा! इस वाक्य में अलकारवादी के मतानुसार भ्रमालंकार है। साँप और रस्सी का सादृश्य यहाँ व्यग्य रखा गया है। बलदेव का भय से उछल पड़ने का कारण है—रस्सी को

भाव के क्षेत्र में अलकार

सॉप समझना। किसी भयावनी वस्तु को देख कर या भ्रम में पड़कर भय से उछल पड़ना मन और शरीर-धर्म की एक वृत्ति है। इसका निराकरण अलकार मानने या न मानने से नहीं होता। यदि बलदेव वस्तुतः सॉप को ही देख कर भय से उछल पड़ता तो आलकारिक इस वाक्य में कुछ सौंदर्य नहीं पाते, पर झगडे की जड़ तो रस्सी है। इस रस्सी में भ्रमालकार का समस्त सौंदर्य सुरक्षित है। अब थोड़ी देर केलिए मनोविज्ञान को भी साथ में ले लीजिए। यदि बलदेव को यह मालूम हो जाता कि सड़क पर पड़ी हुई रस्सी ही है, सॉप नहीं, तो उसे भय न होता। वह जान-बूझ कर नहीं उछ-लता उसे सॉप का वास्तविक ही भय हुआ था। यदि उसे यह बात मालूम रहती कि उसके उछलने से ही यहाँ भ्रमालंकार हो जाता है तो उसका भाव सत्य और विश्वसनीय न होता। उसका भय कल्पित नहीं, वास्तविक है। जिस अलंकार-विधान में कल्पना की सहायता नहीं रहती उसमें अलंकारत्व मानने या मनाने का दुराग्रह नहीं होना चाहिए। भाव की महत्ता स्वतन्त्र रहने में ही है। कभी-कभी उसे अपनी स्थिति को तीव्र रूप में प्रकट करने केलिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और यहीं उसमें अलकारत्व मिलता है। स्मरण, भ्रम, सदेह, प्रहर्षण, विषादन, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियाँ हैं। इनमें अलकारत्व मानना इनके प्राकृत रूप का निरादर करना है। आदर, आश्चर्य, घृणा, पश्चात्ताप आदि के भावों को प्रकट करने में विप्सालंकार मानना कहाँ तक उचित माना जा सकता है। हृदय के कारणभूत या आकस्मिक उद्‌गार में अलकार के आरोप का प्रयत्न हास्यास्पद है। 'राम-राम, आपने यह क्या किया!' इस वाक्य में विप्सालकार को जगह देने से मह

कहना मुश्किल हो ही जाता है कि अलकार कहाँ नहीं है !

भाव से भिन्न दूसरी ओर भी अलकारो ने दूसरो को वेदखल कर दिया है । न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, ये चार और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान, ये दो प्रमाण माने गए हैं, लेकिन चंद्रालोककार जयदेव ने न्याय तथा दर्शन से भी बाजी मार कर प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव और ऐतिह्य, ये आठ प्रमाणालकार माने हैं । यह वेदखली संस्कृत तक ही रहती तो कोई हर्ज न था । हिंदी के आलकारिकों ने भी आठों प्रमाणालकारो की सोदाहरण परिभाषाएँ लिखी हैं । नमूने केलिए सभव-प्रमाण का एक उदाहरण लीजिए ।

न्याय तथा दर्शन के क्षेत्र में अलंकार

ठाकुर कहत कछु कठिन न जानो याहि
हिम्मति किये ते कहो कहा न सुधरि जाय
चारि जने चारिहू दिसासों चारो कोन गहि
मेरु को हिलाय कै उखारैं तो उखरि जाय

—ठाकुर

इस कविता का तात्पर्य यही है कि हिम्मत करने से सब काम हो सकते हैं और यहाँ सभव प्रमाणालकार की पुष्टि केलिए कहा गया है कि चार आदमी मेरु पर्वत के चारों कोनों को पकड़ हिला कर उखाड़ें तो वह उखड़ जाय। अब यही विचार करना है कि इसमें अलकारत्व क्या है ? इसमें एक-मात्र प्रोत्साहन का भाव है। चार आदमी से मेरु पर्वत का उखाड़ना तो आलकारिकों के अनुसार असंभव अलकार है, किंतु उत्साह की वृद्धि केलिए यहाँ पर्वत उखाड़ने की अनिश्चित संभावना दिखाई गई है। अतः इसमे संभव

प्रमाण नामक कोई जंतु नहीं। न्याय के क्षेत्र पर इतना ही अधिकार नहीं किया गया है, काव्यार्थापत्ति, संसृष्टि, सकर, एकवाचकानुप्रवेश सकर एक-मात्र न्याय की भीत्ति पर ही खडे किए गए हैं। दंडपूपिका न्याय पर काव्यार्थापत्ति स्थिर है। तिल-तदुल-न्याय हटा लेने पर संसृष्टि-अलकार समझ में ही नहीं आता। नीर-क्षीर न्याय के सिवा 'सकर' की सकरता के रहस्य का पता नहीं चल सकता। एक वाचकानुप्रवेश जो सकर का ही भेद है, नृसिंहाकार-न्याय पर जम कर बैठ गया है। इसी के एक अन्य भेद अंगागिभाव संकर ने भी बीज-वृक्ष-न्याय को कस कर पकड़ लिया है। अधिकाश उभयालकारो के आधार न्याय है।

वाणी के क्षेत्र में अलकार

न्याय क्षेत्र को छोड़ कर अब वाणी के प्रागण में आइए। यहाँ भी अलकार का प्रभुत्व है। काकु वक्रोक्ति के सबध में आलकारिको में इस बात पर मतभेद है कि इसे शब्दालकार के अंतर्गत मानना चाहिए या अर्थालकार के भीतर, किंतु आचार्यों के मतानुसार निश्चित ही है कि यह एक अलकार है। पद-भग-श्लेष वक्रोक्ति और पद-अभग-श्लेष वक्रोक्ति केलिए विशेष चिंता की बात न थी, पर काकु वक्रोक्ति अलकार स्पष्टतः वाणी के क्षेत्र में जा पहुँचता है। आर्थीव्यजना के काकुवैशिष्ट्य तथा गुणीभूत व्यग्य के काक्काक्षिप्त व्यग्य में वाणी का जो चमत्कार दिखलाया जाता है उसके लिए कुछ कहना नहीं, पर अलकार को स्वर की विचित्रता में बॉध रखना कहाँ तक न्याय्य कहा जा सकता है!

वाणी के बाद क्रिया के क्षेत्र पर अलकार का अधिकार देखिए। क्रियाविदग्धा तथा धीरा नायिका के हाव-भावो के स्वाभाविक वर्णन

को अलकार के हवाले कर दिया गया है। सूक्ष्म और पिहित-१ अलकार में क्रिया चेष्टा की विशिष्टता ही रहती है, किसी भाव को तीव्र करने का प्रयत्न नहीं। साधारणतः किसी अभिप्राय का बोध कराना ही सूक्ष्म अलंकार का लक्ष्य हुआ करता है। जैसे:—

क्रिया के क्षेत्र में अलकार

स्याम-बुलावन समुझि तिय, चित समुचित सखि सैन।
ताकि तनक पिय-तन, करन, कर धरि मूँदे नैन॥'

किसी क्रियाविदग्धा नायिका ने अपने प्रिय नायक की दूती की चेष्टा से यह जानकर कि नायक ने मुझे बुलाया है, अपने निकट बैठे पति की ओर तनिक देख अपने कान पर हाथ रख कर आँख मूँदने की क्रिया से यह प्रकट किया है कि पति के सो जाने पर मै जाऊँगी। इसमें नायिका ने दूती के नयन-सकेत को समझते हुए चेष्टा से अपने जाने की सूचना दी है। पिहित अलकार भी, जहाँ किसी का छिपा हुआ वृत्तात उसके किसी आकार द्वारा जानकर कोई किसी प्रकार की किया से उसका अभिप्राय समझ लेना प्रकट करे, वहाँ होता है। यदि सूक्ष्म और पिहित अलकार माने जायँ तो अलकार की परिभाषा में इस बात की गुँजाइश रखनी पड़ेगी कि अलकार केवल भाव को ही अलंकृत नहीं करते, प्रत्युत क्रिया का मडन भी करते हैं।

अप्पय दीक्षित ने जयदेवकृत 'चद्रालोक' के व्याख्या-रूप 'कुवलयानद' में व्याजोक्ति और युक्ति अलकार मे भी उक्ति के अतिरिक्त क्रिया तथा आकार द्वारा गोपन की विधि समिलित कर ली है।

१. कुछ आचार्य पिहित को स्वतंत्र अलकार न मान कर सूक्ष्म का ही एक भेद मानते है।

काल-विभाग (Tense) में भी अलकार बेतरीके घुस पड़ा है। काल व्याकरण का एक अग है, अलकार के साथ उसका सबंध नहीं रहना चाहिए। भूत, वर्त्तमान और भविष्य इन तीनों कालों को व्याकरण के क्षेत्र में अपने अलग-अलग व्यापार हैं। भाविक अलकार की योजना कर आचार्यों ने व्याकरण को भी अछूता नहीं छोड़ा। जहाँ भूत और भविष्य के वर्णन वर्त्तमान काल की तरह किये जायँ वहाँ भाविक अलंकार की स्थिति बताई जाती है। उदाहरण केलिए—

व्याकरण के क्षेत्र में अलंकार

हमको विदित थे तत्त्व सारे नाश और विकास के।
कोई रहस्य छिपे न थे पृथ्वी तथा आकाश के॥
थे जो हजारों वर्ष पहले जिस तरह हमने कहे।
विज्ञानवेत्ता अब वही सिद्धात निश्चित कर रहे॥

—मैथिलीशरण गुप्त

उपर्युक्त हरिगीतिका छद में यह बताया गया है कि भारतवर्ष के महर्षियों ने हजारों वर्ष पहले पदार्थ-विद्या के जिन तत्त्वों का रहस्योद्घाटन किया था उन्हीं पर अब आजकल के वैज्ञानिक अपने सिद्धांतों का निर्माण कर रहे हैं। इसमें अलकार की पुष्टि केलिए थोड़ा भी चमत्कार नहीं है। 'राम सीता के साथ चित्रकूट जा रहे हैं', इस वाक्य में अलकारत्व मानने से अलकार की महत्ता नहीं बढती, उसकी मिट्टी पलीद होती है। ऐतिहासिक वर्त्तमान (Historic present) को अलकार मानने के पहले उस पर गभीर विचार करना उचित है। साग के मोल से अलकार का प्रचार करना अच्छा नहीं।

भाव और भाषा का बहुत घनिष्ट सबध है। अलंकार की पहुँच दोनों क्षेत्रों में है। प्रायः भाव के चमत्कार केलिए अर्थालङ्कार और भाषा के सौंदर्य के निमित्त शब्दालंकार के प्रयोग किये जाते हैं। भाव में चमत्कार लाने केलिए अर्थालकार की जो योजना की जाती है वह अधिकतर भाषा के वैभव की सहायता से ही। जिस भाषा में जितनी लाक्षणिक चपलता होती है उसमें उतनी क्षमता भी रहती है। लगभग अधिकांश अलकारो के मूल में श्लेष की स्थिति पाई जाती है। आचार्य दडी ने—'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्'—श्लेष प्रायः सभी वक्रोक्तियों—वक्रोक्ति अलंकार नहीं, उक्ति वैचित्र्य रूप अलकारो—की शोभा बढ़ाता है, कहकर श्लेष की महत्ता को प्रकट किया है। सब अलकार भाषा के वैभव पर ही टिके हुए नहीं हैं। कुछ तो भाषा के दारिद्रय से अपने अस्तित्व की रक्षा में समर्थ होते हैं। भाषा में यदि प्रत्येक भाव या अर्थ को स्पष्ट करने केलिए अलग-अलग शब्द रहते तो उनकी लाक्षणिकता में तो कमी होती ही, शब्दाभाव पर निर्भर रहनेवाले श्लेषादि अलंकार अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकते। भाषा का शब्द-बाहुल्य जहाँ भाव को तीव्र रूप से प्रकट करने में सहायक होता है वहाँ कभी-कभी उससे चमत्कार-प्रकाशन में कुछ बाधा भी पहुँचती है। यदि एक शब्द से एकाधिक अर्थों की व्यक्ति न हो तो अकेले श्लेष की बात क्या, उस पर गौण या मुख्य रूप से स्थिर रहनेवाले अर्थ-वक्रोक्ति, विवृतोक्ति, गूढ़ोक्ति, समासोक्ति आदि अलकारो को कहाँ शरण मिलेगी!

शब्दाभाव पर स्थित अलकार

अलकारो की सख्या न निश्चित है और न निश्चित की जा

सकती है, पर इस सबध में यह बात बराबर याद रखनी चाहिए कि अलकारो को अपने क्षेत्र में ही रहने से काव्य का कल्याण हो सकता है। साहित्य-शास्त्र के कितने आचार्यों ने नये-नये ढग से बहुत-से अलकारों की उद्भावनाएँ कीं, पर वे सब काव्य-जगत् में समान रूप से आदृत नहीं हुई। कल्पना के आश्रय पर निर्मित अलकारों का काव्य मे भावोत्तेजन के रूप में यथास्थान व्यवहार होना चाहिए। यह नई उद्भावना का युग है। नये-नये विविक्त अलंकार यदि निर्मित किए जायँ तो उनसे काव्य का गौरव ही बढेगा।१ पुराने ढग के अलकार इतने किराये के-से मालूम होते हैं कि उनसे किसी अच्छे भाव को तीव्र करने में उतनी सहायता नहीं मिलती। पाठक या श्रोता को नहीं, अलंकार की सिद्धि केलिए ही ऐसे कथन किए गए हैं। काव्य मे प्रायः यही जान पड़ता है कि इसमें वास्तविक चमत्कार या सौंदर्य सर्वत्र अलकार का प्रयोग होना ही चाहिए, यह कोई सिद्धांत नहीं। जहाँ साधारण रूप से यह मालूम पड़े कि भावोत्तेजन की दृष्टि से यहाँ अलकारों की सहायता लेनी है वहाँ अलकार व्यवहृत किए जा सकते हैं। जब काव्यकार अपने भावों को इच्छानुकूल प्रकट नहीं

अलकारों का निरूपण

१ श्रीयुत सेठ अर्जुनदास केडिया ने अपनी अलंकार-सबंधी पुस्तक—'भारती-भूषण' को जब आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के पास समत्यर्थ भेजा था तब उन्होंने इस बात की ओर सकेत किया था कि अब केवल पुराने अलकारों की लीक पीटने से काम नहीं चलेगा। भारती के वे आभूपण बहुत पुराने हो गए हैं, नये ढंग के आभूषण चाहिए। प्राचीन काल के आभूषण आजकल की स्त्रियों को पसंद नहीं, बिहार की स्त्रियों को मारवाड़ के जेवर अच्छे नहीं लगते। काव्य मे भी इस रुचि को आश्रय मिलना चाहिए।

कर सकता तब वह अलकार का आश्रय लेता है। विना जरूरत जो चीज ली जाती है वह बोझ ही समझी जाती है, उससे किसी प्रकार का सौंदर्य-वर्द्धन नहीं हो सकता।

पिछले अध्याय में हम प्राकृत सत्य और काव्यगत सत्य का अतर दिखा चुके हैं। यहाँ काव्यगत सत्य की दृष्टि से अलकार के प्रयोजन पर विचार करना आवश्यक है। अलकार अभाव-प्रसूत है। नायिका के सौंदर्य को वढ़ाने के लिए या उसके प्रकृत रूप ही को अधिकतर सुदर बनाने के निमित्त आभूषण की जरूरत होती है। आभूषण की स्थिति से ही यदि नायिका के सौंदर्य का सवर्द्धन होता हो तो यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि नायिका में सौंदर्य का अभाव है, कम-से-कम उतना अभाव है जितना आभूषण की अवस्थिति से वढ़ जाता है। काव्य-रचना में भी जब काव्यकार मनोनुकूल अपने भाव को पुष्ट नहीं कर सकता तब अलंकार की सहायता लेता है। अलकार का यथार्थ प्रयोजन है, प्रभाव की क्षमता प्राप्त करना। किसी केलिए हमारे हृदय में जो भय, स्नेह, श्रद्धा, घृणा आदि के भाव हैं वे सबके हृदय में समान रूप से या न्यूनाधिक रूप से आ जायँ, इसके लिए काव्य में प्रेपणीयता की आवश्यकता होती है। कोई आदमी सड़क पर धीरे-धीरे जा रहा है। उसके समीप ही आगे से प्रायः तीन हाथ का एक सॉप सड़क पर से निकल गया। उस समय सॉप को देखकर उसके हृदय में जो भय हुआ उसकी अनुभूति दूसरों को इतिवृत्तात्मक ढग से कहने पर उतनी नहीं हो सकती। काव्य में अपने भाव को दूसरे के हृदय की संपत्ति वनाना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जा सके तो काव्यकार

अलंकार का प्रयोजन

प्रेषणीयता में अलंकारत्व

का प्रयत्न निष्फल ही है। काव्य में जब सॉप से उत्पन्न उस भाव का वर्णन किया जायगा तब केवल भय पर ही ध्यान रखने से काम नहीं चलेगा,भयोत्पादक-रूप सॉप के स्वरूप का बृहत्तर तथा भयावना बिंब-ग्रहण करना पड़ेगा। वह कुछ-कुछ इस प्रकार बताया जा सकता है—भई, मै सड़क पर धीरे-धीरे जा रहा था। सामने ही अचानक एक प्राय: पॉच हाथ लम्बा काला सॉप फुँफकार उठा! उस पर पॉव रखते-रखते मैं बच गया! उसकी सूरत देखते ही कलेजा धकसे हो उठा! फिर वह एक ओर जल्दी से सरक गया। —इस प्रकार एक बात को बढा-चढ़ा कर कहने से, यह संभव है कि, जितना भय उस व्यक्ति को तीन हाथ के सॉप को देखने से हुआ था प्राय: उतना ही भय काव्य के पाठक या श्रोता को पॉच हाथ के लबे फुँफकार भरनेवाले काले सॉप के वर्णन से हो सकता है। यही आलंकारिक प्रेषणीयता है, पर इसमें बहुत ही काव्य-सयम और सतर्कता चाहिए। पॉच को पच्चीस बना देने से उस मूल भाव का सक्रमण अन्यत्र नहीं हो सकेगा। भावों का प्रेषक या उत्तेजक बनने में ही अलकार की सार्थकता है। अनुभूतियो को प्रेषित करने में कुछ तो वे विकृत हो जाती हैं और कुछ छूट जाती हैं। काव्य में जितनी अनुभूतियों को स्थान मिल जाता है वे ही मुख्य हैं।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत अलकार के दो मुख्य अग हैं। प्रस्तुत के प्रति भाव को उद्दीप्त करने केलिए ही अप्रस्तुत की योजना की जाती है। यही अप्रस्तुतान्वय यथार्थ अलकार है। काव्य मे वैसी ही अप्रस्तुत-योजना भावोत्तेजक होती है जो हमसे परिचित है और जो हमारे किसी-न-किसी भाव की भूमि है। अन्योक्ति केलिए यह बहुत आवश्यक है कि

अन्योक्ति

उसका प्रस्तुत जितना ही मर्मस्पर्शी हो उतना ही उसका अप्रस्तुत प्रकृति के रमणीय उपादानों से बना रहे। अन्योक्ति में प्रस्तुत व्यंग्य रहता है और अप्रस्तुत को सामने रखा जाता है। यदि अन्योक्ति के व्यंग्य प्रस्तुत में जीवन को स्पर्श करने की क्षमता नहीं है तो उसका अप्रस्तुत चाहे कितना ही परिचित तथा रमणीय उपादानों से बना हो वह अन्योक्ति नहीं कहला सकता। कमल, चकोर, भ्रमर, चद्र आदि को उपलक्ष्य मान कर अन्योक्ति-द्वारा न मालूम जीवन की कितनी मार्मिक घटनाओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। सीधे-सीधे जो बात कही जाती है उससे कहीं अधिक वह बात प्रभावपूर्ण होती है जो किसी उपलक्ष्य के द्वारा कही जाती है। प्रकारातर से देखा जाय तो अकेले अन्योक्ति अलकार में कम-से-कम छः—अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजोक्ति, तथा पर्यायोक्ति—अलंकारों का समावेश हो सकता है। अप्रस्तुत-प्रशसा के सारूप्य निबधना-भेद में श्लेष-हेतुक, श्लिष्ट विशेषण तथा सादृश्य-मात्र, ये तीन अवांतर भेद होते हैं। कुछ आलंकारिक 'सादृश्य-मात्र' अवातर भेद को अन्योक्ति अलंकार मानते हैं।

अलकार वस्तुतः वाच्यार्थ में ही माना जा सकता है, व्यंग्यार्थ में नहीं। विना व्यंग्य के चमत्कार में अलकारत्व रहता है। व्यंग्य की प्रधानता होते ही वह अलकार-शास्त्र का विषय न होकर ध्वनि के अतर्गत आ जाता है। वाच्यार्थ से गौण व्यंग्य काव्य की शोभा बढाता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा में प्रस्तुत-रूप व्यंग्यार्थ का ज्ञान होने पर भी साधर्म्य-विवक्षा से बुद्धि पुनः शीघ्र ही अप्रस्तुत-रूप वाच्यार्थ का आभास पा लेती है। यहाँ वाच्यार्थ में जो चमत्कार है वह व्यंग्यार्थ का संवर्द्धक है। इसी

वाच्यार्थ में अलंकार

कारण 'ध्वन्यालोक'कार के मत से व्यग्य और वाच्य समान होने के कारण यह गुणीभूत व्यग्य है और अलंकार की स्थिति मानी गई है। 'ध्वन्यालोक' में अलकार और अलकार्य का अतर मान कर ध्वनि के अवातर भेदो में कहीं व्यग्य अलकार्य रखा गया है और कहीं अलकार माना गया है, किंतु वाच्यार्थ में ही अलकार मानना युक्ति-युक्त है। अन्योक्ति में प्रस्तुत व्यग्य रहता है, अतः यदि सभव हो तो अप्रस्तुत के वाच्यार्थ को ही प्रस्तुत मान कर उसमें जो कुछ चमत्कार लक्षित हो उसे अलकार कहा जा सकता है। साधर्म्य-विवक्षा के विना अन्योक्ति का प्रस्तुत समझ में नहीं आता। जिस अर्थ को समझने केलिए वाच्यार्थ से दूर जाना पड़े उसे अलकार्य चाहे माना भी जाय, अलकार नहीं माना जा सकता।

सादृश्य और साधर्म्य

अप्रस्तुत-योजना सादृश्य और साधर्म्य पर निर्भर करती है। अभिव्यजनावाद के प्रचलन के कारण आधुनिक काव्य में सादृश्य को साधर्म्य की तरह महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। क्रोचे ने उक्ति में ही अलंकारत्व माना है। अलंकार और अलकार्य की पृथक् सत्ता को स्वीकृत नहीं किया, अतएव क्रोचे के निकट सादृश्य और साधर्म्य का विवेचन, अलकार शास्त्र की दृष्टि से, कुछ महत्त्व नहीं रखता। काव्य की प्रवृत्तियों को कोई एक नियम के अंतर्गत बाँध कर नहीं रख सकता। सादृश्य और साधर्म्य को यदि छोड़ दिया जाय तो अलंकार-शास्त्र में प्रायः कुछ बचता ही नहीं। अलकार में विधायक कल्पना केलिए तर्क का आश्रय नही रखना चाहिए। भाव से कल्पना को जहाँ तक प्रेरणा मिल सके वहीं तक यथार्थ में काव्य का कल्याण हो सकता है। तर्क-पूर्ण विचार से काव्य में सादृश्य-विधान नहीं होता। किसी एक अंश

में भी किसी प्रकार के सादृश्य का आरोप कर काव्य की भावना सतुष्ट हो जाती है, किंतु तर्क और विचार को वह अधूरा ही जँचेगा। १-काव्य में साधर्म्य के संबंध में भी बहुत-कुछ इसी प्रकार की बात है। किसी कार्य, गुण आदि की आंशिक समानता भी साधर्म्य का पूरा आरोप कर देती है। काव्य में यह आवश्यक नहीं है कि सादृश्य के लिए आकार-प्रकार या वजन के नाप-तौल की जरूरत पड़े अथवा साधर्म्य केलिए वस्तु के प्रत्येक कार्य या गुण की पूरी समानता रहे। सादृश्य—बिंब-प्रतिबिंब रूप—और साधर्म्य—वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म—दोनों ही काव्य में भाव के प्रसार केलिए सूत्र का काम करते हैं। यदि भाव का प्रसार सादृश्य या साधर्म्य के संकेत-मात्र से हो जाय तो फिर उनके पूरे आरोप की आवश्यकता नहीं।

प्रभाव आजकल काव्य में सादृश्य और साधर्म्य के अतिरिक्त तज्जन्य प्रभाव का ही अधिक विचार किया जाता है। यही उचित भी है। सादृश्य और साधर्म्य रहने पर भी यदि अप्रस्तुत-योजना में प्रभाव

१ While the Voluntary thought only deals with likeness of practical value in reasoning, the poetic thought is free to recognize likeness of any kind whatever. For it likeness need not be extended, a likeness in any single point to afford a link for the mind is sufficient. Voluntary thought must see the resembleness and point out in what it consist—i e. explain it, but poetic thought is satisfied with a mere recognition of the resemblance, and may not be able at all to define it This cannot be seen but felt.

—Prescott The Poetic Mind p 217

की क्षमता नहीं तो वह किसी काम की नहीं। अप्रस्तुत-योजना के समय काव्यकार को रस की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। रस की प्रतीति के बाधक-स्वरूप उपमान या अधिक अभीष्ट प्रभाव पर व्याघात पहुँचाने वाली अप्रस्तुत-योजना काव्य की दृष्टि से दूषित ही है।

अभिव्यजना के वैचित्र्य का कुछ व्यग्य रूपक और लक्षणा से लाया जाता है। कहीं-कहीं रूपक के अध्यवसान का आधार इतना सूक्ष्म होता है कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत का कोई भेद लक्षित नहीं होता। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच कहाँ तक सादृश्य या साधर्म्य है, इससे कवि अपने को बहुत-कुछ रक्षित समझता है। अल्प या धुँधले आधार पर ही रूपक का अध्यवसान कर दिया जाता है। जैसे—

साधर्म्य का आंशिक आधार

नवोढ़ा-बाल-लहर
अचानक उपकूलो के
प्रसूनों के ढिंग रुक कर
सरकती है सत्वर।

—सुमित्रानंदन पंत

इसमें लहर के साथ नवोढा नायिका का कोई सादृश्य नहीं, थोड़ा-सा धीरे-धीरे चलने का साधर्म्य है। नवोढा मुश्किल से पति के निकट जाती है और थोड़ी देर ठहर कर वहाँ से जल्द भाग खड़ी होती है। साधर्म्य के इसी एक अंश को लेकर कवि ने लहर और नवोढा का अध्यवसान किया है।

आधुनिक कविताओ में अप्रस्तुत-योजना के सादृश्य पर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। साधर्म्य केलिए भी यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच क्रिया-गुण आदि की पूरी समानता होनी ही चाहिए। कभी-कभी सादृश्य और साधर्म्य दोनों का तिरस्कार कर केवल हृदय पर पड़े हुए तज्जन्य प्रभाव का ही साम्य दिखलाया जाता है। इस ढग की कविताओ में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद प्रायः मिटा-सा मालूम पड़ता है। यह पता अच्छी तरह नहीं लगता कि कवि जिस वस्तु का वर्णन कर रहा है वह प्रस्तुत है या अप्रस्तुत। इसका कारण अभिव्यजनावाद का प्रभाव ही बतलाया जा सकता है। प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान से हट कर धीरे-धीरे कवियों का ध्यान अप्रस्तुत की योजना की ओर ही आकर्षित होता जा रहा है। काव्य के यदि जीवन-पक्ष को अलग कर दिया जाय तो उसमें प्रस्तुत कुछ रहेगा ही नही। काव्य की मार्मिकता केलिए जीवन-पक्ष का समन्वय बहुत ही आवश्यक है। जीवन की बातो का अप्रस्तुत में मिलाने से फिर वही समस्या खड़ी हो जाती है। जहाँ जीवन किसी रूप में वर्त्तमान रहेगा वहाँ प्रस्तुत भी मानना ही पड़ेगा।

सादृश्य का अभाव

'सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,

निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए, कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंको झड़ियों से
सुंदर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल ;
चौंक पड़ी युवती,—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर।'

—निराला

इसमे 'जुही की कली' को लक्ष्य कर कवि ने किसी नायिका का वर्णन किया है। अत्र सादृश्य और साधर्म्य का अलग-अलग विचार करना चाहिए। जुही की कली और नायिका में किसी प्रकार का सादृश्य नहीं। वकिम विशाल नेत्र, सुंदर कुमार देह, गोरे कपोल गोल, चकित चितवन आदि नायिका के अग-प्रत्यग केवल किसी मानवाकार वस्तु में ही सभव हैं। जुही की कली और नायिका में बिंब-प्रतिबिंब रूप नहीं, फिर भी रूपक का अध्यवसान कर दिया गया है। साधर्म्य का आधार माना जा सकता है। जुही की कली के लिए पवन में नायकत्व का गुण मौजूद है। हिला-डुला कर कली को खिलाना, झोंकों से लता के साथ कली को अपने वृंत पर हिलाना और अर्द्ध मुकुलित कली का पवन का झोंका पाकर प्रफुल्ल हो जाना आदि नायक-नायिका के धर्मों का साम्य रखते हैं। पर, इस समय कवि यह सब कुछ भूल जाता है कि प्रस्तुत के जिन रूपों या गुणों का आरोप अप्रस्तुत में किया जा रहा है वे वस्तुतः उसमें होते हैं या

नहीं। उसे यह सोचने का अवकाश नहीं रहता। अपने मन की काल्पनिक नायिका का वर्णन एक उपलक्ष्य मानकर वह कर जाता है। पाठक या श्रोता भी रसानुभूति केलिए एक आलम्बन पाकर अपने भाव का आरोप करता है। 'जुही की कली' एक सुंदर मुक्तक रचना है।

प्रस्तुत की अवहेलना

प्रस्तुत-पक्ष को छोड़कर केवल अप्रस्तुत-योजना की ओर कवियों की प्रवृत्ति बहुत बढ रही है। जीवन की मार्मिक अनुभूति इससे बड़ी दूर पड़ जाती है। कविवर सुमित्रानदन पत ने अपनी 'छाया' में अप्रस्तुत-योजना की जो शृखला रखी है वह जीवन के भावों से दूर रह केवल कल्पना का चमत्कार-प्रदर्शन करती है। इसके अनुकरण पर कुछ अन्य कवियों ने भी इसी प्रकार की अप्रस्तुत-रूप-योजना करते हुए रचनाएँ कीं, पर पतजी की भाँति उनमें विराट् कल्पना का चमत्कार न आ सका। जीवन की मार्मिक अनुभूति तो ऐसी रचनाओं में लक्षित हो ही नहीं सकती। 'नक्षत्र'—शीर्षक कविता के कुछ अश उदाहरण केलिए लीजिए—

ऐ निशि-जाग्रत्! वासर-निद्रित!
ऐ अनन्य छवि के समुदय!
स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय!
अश्रु-हास! अनिमेष हृदय!

ऐ अनादि के वृत्त अनन्वय!
ऐ आतुर उर के समान!
अब मेरी उत्सुक आँखों से
उमड़ो,—दिवस हुआ अवसान!

यहाँ तक तो मालूम पड़ता है कि प्रस्तुत का रूप-विधान ही कवि का लक्ष्य है, पर आगे चलते-चलते कवि ने प्रस्तुत का ऐसा धुँधला आधार लिया है कि उसमें केवल अप्रस्तुत-योजना ही रह गई है। प्रस्तुत का आधार क्षीण होते-होते विलीन हो गया है। आगे के चुने हुए अंशों को देखिए—

ऐ अनत की अगम कल्पना!
ऐ अशब्द-भारति अविषय!
आदि नग्न सौंदर्य निरामय!
मुग्ध दृष्टि की चरम विजय!
× × ×
ऐ अज्ञात देश के नाविक!
ऐ अनत के हृत्कपन!
नव प्रभात के अस्फुट अकुर!
निद्रा के रहस्य कानन!
× × ×
सूर-सिंधु! तुलसी के मानस!
मीरा के उल्लास अजान!
मेरे अधरो पर भी अकित!
कर दो यह स्वर्गिक मुसकान!
× × ×
ऐ नश्वरता के लघु बुद् बुद!
काल-चक्र के विद्युत्-कन!
ऐ स्वप्नों के नीरव चुम्बन!
तुहिन-दिवस! आकाश-सुमन!
× × ×

—सुमित्रानदन पंत

इस कविता के शीर्षक के साथ-साथ यदि निशि-जाग्रत्, वासर-निद्रित, आकाश-सुमन आदि कुछ पदो को हटा लिया जाय तो यह एक पहेली-सी हो जायगी। इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकेगा। जिस कविता में जीवन की अनुभूति नहीं रहेगी केवल कल्पना का बवडर रहेगा उसके अर्थ की अस्पष्टता उसका नित्य स्वरूप है। अप्रस्तुत-योजना बुरी बात नहीं, किंतु प्रस्तुत की बिलकुल उपेक्षा कर देने से वर्णन का आधार नही रह जाता। सारी कविता हवाई जहाज हो जाती है। प्रस्तुत के आधार पर जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है वह निश्चय ही मार्मिक होती है।

प्रभाव और रमणीयता की दृष्टि से जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है वह बहुत सुदर होती है। आजकल के समालोचको के मतानुसार व्यंग्य रूपक बड़ा उत्कृष्ट माना जाता है। पतजी की रचनाओं में इसके अनेक अच्छे उदाहरण हैं। प्रस्तुत केलिए जिन उपमानो के प्रयोग काव्य में रूढ हो गए हैं उनमें विशेष नवीनता न रहने पर भी यदि वे मार्मिक ढग से प्रयुक्त किए जायँ तो सौंदर्य का अच्छा विधान हो सकता है।

व्यग्य-रूपक

'प्रथम, भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, तरल
उर्मियो के साथ क्रीड़ा की उन्हें

लालसा अब है विकल करने लगी।
कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,

चपल चोखी चोट कर पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।'

—सुमित्रानंदन पंत

इसमें आँखों का बहुत ही मार्मिक वर्णन है। आँख के उपमान मछली, खंजन आदि प्रसिद्ध हैं। कमल मुख केलिए तथा भ्रमर रस-लोलुप होने के कारण नायक के उपमान के रूप में रखे गए हैं। नायिका की आँखों में क्रम-क्रम से चपलता बढ़ती है। पहले जो नायिका नायक को देख कर भीत होती थी, झिझकती थी वही अब समय पाकर नायक को अपने हाव-भाव से विकल करने लगी है। उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत का बहुत रमणीय तथा मार्मिक अध्यवसान किया गया है।

अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना

अप्रस्तुत रूप-योजना-द्वारा प्रस्तुत की बड़ी मार्मिक व्यंजना की जा सकती है। केवल उपमानों को ला पटकने से ही वर्णन सजीव नहीं हो जाता। अनुभूति की थोड़ी-सी भी मार्मिकता वर्णन में जीवन ला देती है। हास्य की यह कितनी सुंदर अप्रस्तुत-योजना है।

'विकसित सरसिज-वन-वैभव
मधु उषा के अंचल में,
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल में।'

—प्रसाद

इसमें अप्रस्तुत के उपलक्ष्य द्वारा प्रस्तुत की हँसी का वर्णन किया गया है। उषा-काल में पूर्व दिशा की लालिमा से कमल-वन की जो शोभा होती है वह नायिका की हँसी के सम्मुख तुच्छ है। इसमें व्यतिरेक का भाव है और इसी कारण प्रस्तुत का अध्यवसान अधिक

व्यंग्य नहीं रह सका है। कुछ और देखिए—

'सखि, नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा! तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिम-बिंदु बचे तब भी,
चलता उनको धरता-धरता,
गड़ जायँ न कंटक भूतल के,
कर डाल रहा डरता-डरता।'

—मैथिलीशरण गुप्त

यह प्रातःकाल की अप्रस्तुत-योजना है। सूर्योदय के कारण तारागण का विलीन होना और धीरे-धीरे रश्मियों के पृथ्वीतल पर पहुँचने का अच्छा वर्णन है। उत्कृष्ट अप्रस्तुत-योजना में प्रस्तुत गूढ व्यंग्य नहीं रखा जाता। उपर्युक्त योजना में प्रस्तुत का स्वरूप बड़ी सुंदरता से झाँक रहा है। अप्रस्तुत-योजना में कल्पना की उड़ान उतनी ऊँची नहीं होनी चाहिए जिसमें नीचे पड़े हुए प्रस्तुत का रूप, पहाड़ होने पर भी, तिल की तरह दिखाई दे। काव्य में सौंदर्य की सत्ता के लिए अप्रस्तुत-योजना ठीक प्रस्तुत के अनुकरण पर होना वाछनीय है।

अभिव्यंजना का एक प्रकार का प्रभाव जो अब आधुनिक कविताओं में स्पष्ट लक्षित हो रहा है, वह है, अप्रस्तुत-योजना में व्यंग्य-व्यंजक भाव का संबंध। इसमें कवि की दृष्टि किसी प्रकार के रूप-साम्य पर नहीं पड़ती, केवल व्यंजना ही उसका ध्येय रहता है। 'वीचि-विलास' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

व्यंग्य-व्यंजक भाव

'गूढ साँस-सी अति गति-हीन
अपने ही कपन में लीन;
सजल कल्पना-सी साकार
पुनः पुनः प्रिय पुनः नवीन;
तुम शैशव-स्मिति-सी सुकुमार,
मर्म-रहित, पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार।'

—सुमित्रानदन पत

ध्वनि में अलकार

अलकार के भीतर ध्वनि का प्रवेश भी बहुत दूरतक हो गया है। सलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि के दो प्रधान—शब्द-शक्ति-उद्भव तथा अर्थ-शक्ति-उद्भव-ध्वनि—भेदो में व्यग्य रूप से कितने प्रकार के अलकारों का समावेश कर दिया गया है। शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि में वस्तु-ध्वनि तथा अलकार-ध्वनि होती है। अर्थ-शक्ति-उद्भव-ध्वनि मे व्यजक और व्यग्य दोनो अर्थ हाते हैं। व्यजक अर्थ तीन प्रकार के होते हैं. स्वतः सभवी, कवि-प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध तथा कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध। इनके अनेक भेदों में कहीं वस्तु से वस्तु व्यग्य, कहीं वस्तु से अलकार व्यग्य, कहीं अलंकार से अलकार व्यग्य होता है। प्रधानतः यह विषय ध्वनि-शास्त्र का है, अलंकार के साथ इसका विवेचन करने से अलकार की दुरूहता बढ़ेगी। गूढ कल्पना के आश्रय से अलकार की शोभा नष्ट ही होगी, बढेगी कदापि नहीं। अतएव अलकार के प्रसग में इसका विस्तृत विवेचन हम उचित नहीं समझते। ध्वनिवादियों के आग्रह का ही यह परिणाम हुआ कि ध्वनि का प्रवेश धीरे-धीरे साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों मे हो गया।

प्रस्तुत के वर्णन में जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है वह कल्पना के सहारे ही, पर सत्काव्य केलिए केवल कल्पना ही यथेष्ट नहीं है।

कल्पना और अनुभूति

कल्पना के साथ हृदय की अनुभूति का सामजस्य रहना बहुत आवश्यक है। भाव या अनुभूति से जीवन-व्यापार का जैसा सबध पाया जाता है वैसा कल्पना से नहीं। तुलसी और सूर के काव्यों में जो इतना रस, इतनी विदग्धता पाई जाती है वह केवल कल्पना के सहारे ही व्यक्त नहीं हुई है। अनुभूति जितनी गभीर तथा मार्मिक होगी वह उतनी ही प्रभावपूर्ण भी रहेगी। हृदय की अनुभूति जब प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों के साथ पूरा-पूरा मेल खा जाती है तब प्रस्तुत-अप्रस्तुत का अंतर मिटा-सा मालूम हो जाता है। अतःकरण की भाव-मग्नता और प्रकृति के व्यापारों में बिंब-प्रतिबिंब भाव हो जाता है। हृदय की ऐसी स्थिति अलकारों के स्वाभाविक प्रस्फुटन केलिए भावों के क्षेत्र को उन्मुक्त कर देती है। यह एक ऐसी अवस्था है जब हृदय में छिछले भाव उत्पन्न ही नहीं होते। हृदय की अनुभूति गंभीर होती है, अतः गभीर भावों से लदे हुए अलकारो में जो गंभीरता होगी वह हवाई जहाज की तरह उड़नेवाली आधार-हीन कल्पना के बल से निर्मित अलकारो में संभव नहीं। राम की सीता-हरण-जनित कातरता के वर्णन में अलकार कितना जमकर बैठ गया है! 'खजन, सुक, कपोत, मृगमीना, मधुप-निकर, कोकिला प्रवीना, कुंदकली, दाड़िम, दामिनी, सरद कमल, ससि, अहि भामिनी, वरुन-पास मनोज धनु हंसा, गज केहरि निज सुनत प्रसंसा, श्रीफल, कमल, कदलि हरषाहीं, नेकु न संक सकुच मन माहीं।'

—तुलसी

इसमें रूपकातिशयोक्ति अलकार बहुत स्वाभाविक ढग से आ गया है। वन के भीतर जो अप्रस्तुत हैं वे प्रस्तुत के भाव को तीव्र करते हैं, पर इसमें विचार करने लायक कुछ उपमान हैं जो पुरानी लीक पर बैठाए गए हैं। अप्रस्तुत की योजना दो दृष्टियो से की जाती है; पहली तो अगोचर बातों को गोचर रूप देने और दूसरी प्रस्तुत के भाव को तीव्र करने की दृष्टि से। उपर्युक्त पंक्तियो में वन के भीतर अप्रस्तुत प्रस्तुत भी हैं, इसी कारण वर्णन मे सजीवता आ गई है। अपने हृदय की व्याकुल भावना को प्रकृति पर आरोपित करने का वर्णन नीचे के पद में कैसा सुदर है।

'मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह विजोग स्याम सुंदर के ठाढे क्यों न जरे ?
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ वन के पखेरू धिक-धिक सबन करे।
कौन काज ठाढे रहे वन में काहे न उकठि परे।'

—सूर

इसमें भावोन्माद की दशा में गोपियों की अंतर्दशा का चित्रण ऋतु-सुलभ व्यापारों से किया गया है। हृदय के भाव को प्रस्तुत मानकर अप्रस्तुत-रूप प्रकृति के दृश्य पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का बड़ा मार्मिक आरोप हुआ है। भर्त्सना का प्रबल भाव है। ऐसी कल्पना में अनुभूति का कुछ योग है।

काव्य में अप्रस्तुत-योजना ही सब कुछ नहीं है। केवल प्रस्तुत-

विधान से भी काव्य में बड़ी रमणीयता आ सकती है। कवि की प्रतिभा की सच्ची पहचान प्रस्तुत-विधान में ही होनी चाहिए। कल्पना की सहायता जितनी अप्रस्तुत-योजना में होती है उतनी ही उससे कम नहीं, प्रस्तुत-विधान में होती है। कवि की भावुकता का परिचय इसी से मिलता है। सीधे-सादे शब्दों में एक बिल्ली का स्वाभाविक वर्णन देखिए—

प्रस्तुत-विधान

'तूल-सी मार्जार-बाला सामने
निरत थी, निज बाल-क्रीड़ा में—कभी
उछलती थी, फिर दुबक कर ताकती,
घूमती थी साथ फिर-फिर पूँछ के।'

—सुमित्रानंदन पंत

इसमें बिल्ली की स्वाभाविक चपलता का मनोरम बिंब-ग्रहण है। 'तूल-सा' को छोड़कर अप्रस्तुत का इसमें कहीं समावेश नहीं। केवल प्रस्तुत-विधान में इतनी रमणीयता लाना कवि की वास्तविक प्रतिभा का ही काम है। मेघदूत के प्रकृति-वर्णन का एक श्लोक लीजिए।

'पाण्डुच्छायोपवनवृतय: केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनांताः
संपत्स्यंते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥'

—कालिदासः

अर्थात्—केतकी के फूलने से बागों की सीमाएँ शुभ्र हो जायँगी। गाँव के मंदिरों में पक्षी बड़ी लगन के साथ अपने घोंसले बनाने में लगेंगे। तुम्हारे—वर्षा-ऋतु—आजाने से पके हुए जामुनों की श्यामता

से पूर्ण वन की शोभा होगी और दशार्ण में तब हम कुछ ही दिन रहेंगे।

इस वर्णन से वर्षा-काल में दशार्ण-प्रांत की शोभा का बड़ा सुंदर चित्र उपस्थित होता है। केतकी का फूलना, वर्षा के भय से पक्षियो का घरो में, छज्जों में घोसले बनाना, जामुनो का पक-पक कर काला होना आदि प्रकृति के बड़े रमणीय और नियमित व्यापार हैं। इससे बड़े संश्लिष्ट प्रस्तुत-विधान केलिए महाकवि वाल्मीकि का वर्षा-वर्णन देखिए।

'प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगंधमाघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेंद्राः सार्धं मयूरैः समदा नदंति॥
धारानिपातैरभिहन्यमानाः कदंबशाखासु विलंबमानाः।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजंति॥
अंगारचूर्णोत्करसंनिकाशैः फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः।
जंबूद्रुमाणां प्रविभाति शाखानिपीयमाना इव षट्पदौघैः॥
तडित्पताकाभिरलंकृतानामुदीर्णगंभीरमहारवाणाम्।
विभांति रूपाणि बलाहकानां रणोत्सुकानामिव वानराणाम्॥
मार्गानुगः शैलवनानुसारी संप्रस्थितो मेघरवं निशम्य।
युद्धाभिकामः प्रतिनादशंकी मत्तो गजेंद्रः प्रतिसंनिवृत्तः॥
क्वचित्प्रगीता इव षट्पदौघैः क्वचित्प्रनृत्ता इव नीलकंठैः।
क्वचित्प्रमत्ता इव वारणेंद्रैर्विभात्यनेकाश्रयिणो वनांताः॥
कदंबसर्जार्जुनकंदलाढ्या वनांतभूमिर्मधुवारिपूर्णा।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तैरापानभूमि प्रतिमा विभाति॥
मुक्तासमाभं सलिलं पतिद्वै सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः सुरेंद्रदत्तं तृषिता पिबंति॥
षट्पादतंत्रीमधुराभिधानं प्लवंगमोदीरितकंठतालम्।
आविष्कृतं मेघमृदंगनादैर्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥
—वाल्मीकिः

—केतकी पुष्प की गंध सूँघ कर हर्षित, झरने के शब्द सुनने से चचल चित्त मतवाले हाथी झरने के पास मयूरो के साथ गरज रहे हैं। धारा के गिरने से आहत कदब की शाखा में लटकनेवाले भ्रमर पुष्प-रस के पीने से उसी समय उत्पन्न मद का त्याग कर रहे हैं। कोयले के चूर्ण के समान काले रस-भरे अधिक फलों के कारण जामुन वृक्ष की शाखा ऐसी मालूम होती है कि मानो भौंरे लिपट कर उन्हें पी रहे हों। बिजली-रूपी पताका से अलकृत दूर तक फैलनेवाला गभीर निनाद करनेवाले मेघो का रूप युद्धोत्सुक वानरों के समान मालूम होता है। पार्वत्य वन में भ्रमण करने वाला और युद्ध की इच्छा से मार्ग में जाता हुआ मतवाला हाथी मेघ के निनाद को सुनकर पीछे लौट पड़ा, उसे दूसरे हाथी के चिग्घार का भ्रम हो गया। वन की भूमि अनेक प्रकार की हो गई, भ्रमरो के समूहों से कहीं गाती हुई, मयूरी के द्वारा कहीं नाचती हुई और मतवाले हाथियो के द्वारा प्रमत्त के समान मालूम होती थी। कदव, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमल से युक्त मीठे जल से परिपूर्ण यह वन-भूमि मयूर के मत्त शब्द और नृत्त से मद्यपान की भूमि के समान हो गई है। इद्र का दिया हुआ गिरने वाला और पत्तो में लगा हुआ मोती के समान निर्मल जल प्रसन्न बिखरे पखो वाले प्यासे पक्षी पी रहे हैं। मालूम होता है कि वन मे संगीत हो रहा हो, भ्रमरो का शब्द सितार के झकार के समान है, मेढकों का शब्द कठताल है, मेघ का गर्जन मृदंग की ध्वनि है, इस प्रकार वन में मानो सगीत हो रहा है।

वाल्मीकि के उपर्युक्त वर्षा-वर्णन से प्रकृति के दृश्य का बहुत ही रमणीय बिंब-ग्रहण होता है। वर्षा-ऋतु का वर्णन प्रस्तुत है और इसका

निर्वाह अच्छी तरह हुआ है। प्रस्तुत के भाव को रमणीय तथा तीव्र करने केलिए कहीं-कहीं अप्रस्तुत-योजना भी की गई है, पर वह प्रस्तुत के ऊपर प्रधानता नहीं पा सकी है। प्रस्तुत का वर्णन स्पष्ट है। हिंदी के कवियों में संस्कृत के कवियो की तरह बिंब-ग्रहण कराने का प्रयत्न बहुत कम पाया जाता है। वाल्मीकि का वर्षा-वर्णन वर्षा-वर्णन केलिए ही है। १ कवि का ध्यान प्रस्तुत को छोड़ अन्यत्र नहीं भटका है। जीवन की मार्मिकता इस वर्णन में बराबर पाई जाती है। गोस्वामी तुलसीदास के वर्षा-वर्णन को देखिए।

'वर्षहिं जलद भूमि नियराये, जथा नवहिं बुध विद्या पाए।
बुंद अघात सहैं गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे॥
अर्क जवास पात बिनु भयऊ, जिमि सुराज्य खल उद्यम गयऊ।
छुद्र नदी भरि चलि उतराई, जस थोरेहु धन खल इतराई॥
भूमि परत भा ढाबर पानी, जिमि जीवहिं माया लपटानी।
सिमिट-सिमिट जल भरहिं तलावा, जिमि सदगुन सज्जन पँह आवा।
सरिता जल जलनिधि मँह जाई, होहि अचल जिमि जिव हरि पाई।'

—तुलसीदास

इस वर्षा-वर्णन में कवि का ध्यान प्रस्तुत पर कम और अप्रस्तुत पर बहुत प्रबल रूप से गया है। प्रबंध काव्य में प्रासंगिक रूप से कवि ने वर्षा का वर्णन किया है, पर कवि ने उसे उपदेश देने का उपलक्ष्य बना दिया है। वर्षा का संश्लिष्ट बिंब-ग्रहण तो कुछ होता नहीं, पाठक या श्रोता के मन में बार-बार यही आता है कि विद्या

१. यहाँ 'कला कला केलिए' का भ्रम नहीं होना चाहिए। वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन में जीवन की सार-सत्ता बराबर लक्षित हो रही है, पर 'कला कला केलिए' वाले कला में जीवन का प्रवेश आवश्यक नहीं समझते।

पाकर लोग कैसे नम्र हो जाते हैं, दुष्टों के वचन को सत कैसे सहते हैं, सुराज्य में खलों का उद्यम कैसे नष्ट हो जाता है, इस प्रकार पर्वत पर वर्षा की बूँदें गिरने या अर्क-जवास के पत्र-हीन होने का चित्र उपस्थित ही नहीं होता। बिंब-ग्रहण कराने केलिए यह आवश्यक है कि अप्रस्तुत-योजना मे प्रस्तुत का सादृश्य और रमणीयता रहे। केवल साधर्म्य—वह भी सूक्ष्म साधर्म्य—के बल पर बिंब-ग्रहण नहीं कराया जा सकता। गोस्वामी तुलसीदास ने जो अप्रस्तुत-योजना रखी है वह न तो बिंब-विधायक है और न प्राकरणिक ही। काव्य में ऐसी अप्रस्तुत-योजना से चित्त पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः ऐसी योजना का काव्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं, नीतिशास्त्र चाहे इसे जो कहे।

अलकारों में शुद्ध तथा प्रधान उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि हैं। आरोपित तथा सभावित वस्तु या तथ्य में ही अलंकार रहता है।

अलंकारों की प्रभाव-हीनता

भावों के विषय में अलकार की स्थापना नहीं हो सकती। अतिशयोक्ति कई अलंकारो का आश्रय-स्थल है। उत्प्रेक्षा या अतिशयोक्ति के प्रायः समस्त आधार झूठे या सभावित होते हैं। अतिशयोक्ति में अध्यवसान सिद्ध रहता है और उत्प्रेक्षा में साध्य। गभीर या मुख्य भावों के वर्णन में झूठे आधार प्रतीति और रसानुभूति में बाधक हो जाते हैं। यदि आधार सत्य हो और उसका हेतु भी सभावित हो तो प्रभाव की व्यापकता बढ जाती है। अलकारों के मोह में पड़कर कभी-कभी ऐसे वर्णन किए जाते हैं जिन पर न तो विश्वास जमता है, और न किसी प्रकार के सौंदर्य का विधान होता है। जैसे—

'समर भूमि में थिरक कौन वह नाच रही है अलवेली।
विश्व-व्योम पर मदमाती-सी करती है अठखेली॥
+ + +
निर्दयता की निठुर मूर्ति-सी, हत्या की जय झडी-सी।
उष्ण रुधिर की प्यासी जो नित रहती है रणचंडी-सी॥
दुष्ट जनों की कुटिल प्रीति-सी, चारु कामिनी-चितवन-सी।
नीच हृदय की स्वार्थ नीति-सी, पराधीनता-बंधन—सी॥
जीर्ण रूढियों के हठ-सी, साम्राज्यवाद की काया-सी।
विधवा के सतप्त हृदय-सी नित अनर्थ की जाया-सी॥
कामुकता की क्षणिक तृप्ति-सी, पतिव्रता की दृढता—सी।
रिपुता के घन में चपला-सी महा-क्रोध की जड़ता-सी॥
धर्मराज की अति अभीतिमय सहनशीलता—सी वह मौन।
सूनी गोद मृत्यु की हँस-हँस भरती रहती है वह कौन ?'
+ + +

—कैरव

इसका प्रस्तुत—तलवार—एक मूर्त्त पदार्थ है, पर कवि ने इसके लिए जो अप्रस्तुत-योजना की है, वह सूक्ष्म उपमानों से भरी है। आजकल सूक्ष्म अप्रस्तुत-योजना की बड़ी बढती है।

सूक्ष्म प्रस्तुत की मूर्त्त अप्रस्तुत-योजना कुछ कठिन है। इसी कारण हिंदी के कवियों ने इस प्रकार की योजना का स्वागत अच्छी तरह नहीं किया। सस्कृत में इसके कितने अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं। 'अभिज्ञान शाकुतलम्' से इसका एक नमूना दिखलाया जा सकता है। नाटक के आरंभ में ही जब राजा दुष्यत शकुतला के साथ प्रणय-संबंध स्थापित कर अनिच्छा-पूर्वक अपनी राजधानी जा

रहे हैं उसी समय के वर्णन में महाकवि कालिदास ने जो अप्रस्तुत-योजना की है वह बड़ी सुदर है। दुष्यंत शरीर से अपनी राजधानी जा रहे हैं, पर उनका 'मन पीछे की ओर—शकुतला के पास—दौड़ रहा है, इसकी अप्रस्तुत-योजना दंड में लगी हुई पताका, जो आगे लिये जाने के कारण पीछे की ओर फहराती है, से की है। शरीर मूर्त्त है, और उसका उपमान दड भी मूर्त्त है। मन सूक्ष्म है, पर उसका उपमान पताका मूर्त्त है। दोनों में पीछे की ओर जाने का अच्छा सादृश्य और साधर्म्य है। इस प्रकार के अप्रस्तुत से बिंब-ग्रहण भी हो जाता है। 'विषाद'—शीर्षक कविता की कुछ पक्तियाँ देखें।

'कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा
वृक्ष-पत्र की मधुछाया में;
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है
अमृत—सदृश नश्वर काया में?
अखिल विश्व के कोलाहल से—
दूर सुदूर निभृत निर्जन में,
गोधूली के मलिनाचल में,
कौन जंगली बैठा वन में?
शिथिल पड़ी प्रत्यंचा किसकी?
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है;
वशी नीवर पड़ी धूल में
तरकस का भी बुरा हाल है।

\+ \+ \+

निर्झर कौन बहुत बल खाकर
बिलखाता, ठुकराता फिरता,

खोज रहा है स्थान धरा में
अपने ही चरणो में गिरता ?
किसी हृदय का यह विषाद है
छेडो मत, यह सुख का कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ
करुणा का यह थका चरण है !' —प्रसाद

इसका प्रस्तुत—विषाद—एक भाव है, अतएव सूक्ष्म है, पर इसके लिए कवि ने जो अप्रस्तुत-योजना की है वह मूर्त्त है। भाव का रूपक बॉधना सरल नही है। जो कवि मनोविज्ञान से अच्छा परिचय रखते हैं वे ही सूक्ष्म की रमणीय अप्रस्तुत-योजना उपस्थित कर सकते हैं।

गणित की योजना से भाव-हानि

अलकार रस का सहायक है। यदि किसी अलकार से रसानुभूति में बाधा पहुँचे तो उसे अलकार की सज्ञा देना व्यर्थ है। नये युग की कविताओं के पहले जो कविताएँ रची गई हैं उनमें अलंकारो की भरती के कारण बहुत ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें प्रस्तुत के प्रति भावो का उत्तेजन होता ही नही। अलंकार के रूप में सब ग्रहों को ला बिठाना या गणित की समस्या हल करना काव्य को अपने पथ से हटाना है। सहजानुभूतिवाले अध्याय मे हम इस बात की थोड़ी चर्चा कर आए हैं। जिस वस्तु या तथ्य का हमारे चित्त पर कुछ प्रभाव न जम सके उसे काव्य से बाहर रखना ही अच्छा है। नये युग के कवियों की रचनाओ में जो अस्पष्टता रहती है वह अपने भावों की गंभीरता दिखाने की धुन का परिणाम है, पर पुराने कवियों ने अलंकारों के बोझ से ही काव्य का दम तोड़ दिया है।

प्रस्तुत की उत्कर्ष-व्यंजना केलिए ऐसी ऊहात्मक प्रणाली की सहायता ली जाती है कि उसके प्रस्तुत का प्रकृत महत्त्व तो जाता ही रहता है, पाठक या श्रोता के चित्त पर कुछ प्रभाव भी नहीं पड़ता। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के उत्तर काड मे अपने महत् प्रस्तुतो केलिए जिन विराट् अप्रस्तुतो की योजनाएँ की हैं वे काव्य के पथ से बहुत दूर चली गई हैं।

'राम काम सत-कोटि सुभग तन, दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन।
सक्र कोटि-सत सरिस विलासा, नभ सत कोटि अमित अवकासा।

मरुत कोटि-सत विपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास।
ससि-सत-कोटि सो सीतल, समन सकल भव-त्रास ॥
काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरत।
धूमकेतु सत कोटि-सम, दुराधरष भगवत ॥

प्रभु अगाध सत कोटि पताला, समन कोटि सत-सरिस कराला।
तीरथ-अमित कोटि सम पावन, नाम अखिल अघपुंज-नसावन ॥
हिमगिरि कोटि अचल रघुवीरा, सिंधु कोटि सत सम गभीरा।
कामधेनु सत कोटि-समाना, सकल काम दायक भगवाना ॥
सारद कोटि अमित चतुराई, विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।
विष्णु कोटि-सत पालनकरता, रुद्र कोटि-सत-सम संहरता ॥
धनद कोटि सत-सम धनवाना, माया कोटि प्रपंच-निधाना।
भारधरन सत कोटि अहीसा, निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥'

ऐसे वर्णन से चित्त में केवल आश्चर्य या असत्यता के भाव का ही सचार होता है। सुदरता या शक्ति की कोटि-गुण महत्ता का कोई भाव उत्पन्न नहीं होता।

पाँचवाँ अध्याय

प्रतीक और उपमान

यह एक मानी हुई बात है कि ज्ञान-क्षेत्र के भीतर ही भावो का प्रसार होता है। हर शब्द हमारे ज्ञान का ही एक अग है। ज्ञान से शब्दो का इतना दृढ़ सबध है कि उससे भिन्न हम कोई कल्पना ही नहीं कर सकते। 'सौंदर्य' शब्द के सुनते ही हमारे हृदय में सुदरता का भाव उत्पन्न होता है। 'सौंदर्य' में हम अन्य किसी भाव का आरोप नहीं करते। मधुरता से जिस भाव का आभास मिलता है वह भयकरता से नहीं। उच्चारण-मात्र से जिस भाव का परिचय मिलता है वह हमारे ज्ञान से अलग नहीं। अन्य अपरिचित भाषा के शब्द, या जिन शब्दो के अर्थ से हम परिचित नहीं वैसे शब्द हमारे हृदय मे कोई अनुरूप विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते। अगरेजी के Horriblble शब्द से भय का भाव उन्हीं को प्राप्त हो सकता है जो इस शब्द के अर्थ से परिचित हैं। केवल शब्द में भयानकता का आरोप नहीं है। यदि ऐसा रहता तो इस शब्द के किसी अपरिचित भाषा के पर्याय से भी हमारे हृदय मे उसी भाव की सृष्टि होती। पर ऐसा नही होता। सथाली भाषा का एक शब्द है 'वतर' जिसका अर्थ भयकर है। इस शब्द से हमारे मन में भय की कुछ कल्पना ही नहीं होती। इसका कारण उस शब्द से हमारी अज्ञानता है। जो शब्द जिससे जितना परिचित रहता है वह उसी अनुरूप

ज्ञान-क्षेत्र में भाव-प्रसार

भावों की सृष्टि करता है। खटाई खाते-खाते जिसकी जीभ से लार टपक पड़ती है उसके सामने यदि 'खटाई' शब्द का उच्चारण किया जाय तो, सभव है, उस समय भी उसकी वैसी ही दशा हो जाय। केवल वैसे ही अपरिचित शब्दों से हमारे हृदय में भावोन्मेष हो सकता है जिनके उच्चारण मे सार्वभौमिक तथा स्वाभाविक भाव-भंगिमा की आवश्यकता पड़ती है। अगरेजी से अनभिज्ञ श्रोता केलिए Horrible शब्द हरिबोल की तरह श्रुतिमधुर हो सकता है, किंतु किसी अंगरेज या अगरेजी भाषा से अभिज्ञ व्यक्ति केलिए उस शब्द में कितनी भावनाओं की समष्टि है! कुत्ते-बिल्ली को पुचकारने या बच्चों को चूमने में जो सार्वभौमिकता है वही उसकी बोधगम्यता की पहचान है।

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनसे केवल अर्थ की व्यक्ति ही नहीं होती, वरन् भावनाओ का उद्बोधन भी होता है।

प्रतीक और उसके दो भेद

जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेपतापूर्ण आकर्पण है तथा जिन पर दीर्घ सास्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है वे शब्द हमारे काव्य में प्रतीक का काम करते हैं। प्रतीको के स्वरूप में कुछ-न-कुछ ऐसी व्यजना रहती है जिससे भावनाओ को विकास के सकेत मिल जाते हैं। ऐसे प्रतीक मुख्यतः दो तरह के होते हैं। वे हैं भावोत्पादक (Emotional Symbols) तथा विचारोत्पादक (Intellectual symbols), पर दोनों में से किसी एक का भी शुद्ध उदाहरण चुनना कुछ कठिन है। प्रायः सब भावोत्पादक प्रतीकों में विचार मिले रहते हैं और उसी प्रकार प्रायः सब विचारोत्पादक प्रतीकों में भाव की स्थिति बनी रहती है। दो भेद करने का तात्पर्य भाव और विचार की प्रधानता तथा गौणता से है। 'कमल' से सौंदर्य का जैसा कोमल भाव

जागरित होता है वैसा 'सॉप' से क्रूरता तथा कुटिलता का भाव उद्बुद्ध नही होता। सॉप में भाव से अधिक विचार का सपर्क है। इसी प्रकार सब प्रतीकों में मनोविकारो की थोड़ी-बहुत जटिलता बनी रहती है।

प्रतीक की उद्भावना के रहस्य

प्रत्येक देश की परिस्थिति तथा सस्कृति के विचार से प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। जल-वायु, रहन-सहन, सभ्यता, शिष्टाचार, विचार-परपरा के अनुकूल ही काव्य मे आदर्शो का विधान होता है। एक देश के काव्य के जो प्रतीक हैं वे दूसरी जगह भी समानित होगे, यह कुछ आवश्यक नहीं। प्रतीक की उद्भावना के लिए किसी जाति की धार्मिक संस्कृति तथा परपरागत विचार-श्रृखला को भुला नही दिया जा सकता। फारस मे प्रणय की मधुरता को दिखाने केलिए शराब का प्रतीक व्यवहृत होता है, पर धार्मिक भावना ने जब शराब के प्रतीकत्व का विरोध किया तब काव्य में नाम-मात्र का ही उल्लेख कर शायर उसका मजा लूटने लगे। हमारे वैदिक साहित्य में सोमरस-पान की बड़ी अधिकता है। उसके परवर्त्ती साहित्य में सुरा-पान का वर्णन भी है, किंतु भारतीय काव्य में न तो सोमरस का प्रतीकत्व मान्य रहा और न सुरा का। सुधा उन दोनो से बाजी मार ले गई। काव्य के प्रतीक बनने का सौभाग्य सुधा को ही प्राप्त हुआ। सुधा को किसी ने देखा नहीं, लेकिन उसके स्वरूपगत आकर्षण तथा अद्भुत शक्ति की जो धारणा परपरा से हमारे मन में बॅध गई है वह काव्य की भाव-व्यजना में बल प्रदान करती है। यूरोपीय काव्य मे थोड़ी देर तक उगनेवाली धूप से आनंद तथा जाड़े की संध्या से उदासी का सकेत मिलता है,

पर भारत की भौगोलिक स्थिति मे अंतर रहने के कारण वहाँ के ये प्रतीक यहाँ मान्य नहीं। बहुत ही थोड़े प्रतीको को सार्वभौमिक महत्ता प्राप्त हो सकती है।

प्रतीक और उसकी विशेषताएँ

प्रतीक केलिए यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वह कोई गोचर वस्तु ही हो। गोचर हो या अगोचर, प्रतीक में सब से बड़ी बात भाव या विचार को जगाने की क्षमता होनी चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु, शिव को हमने देखा नहीं, किंतु उनके नाम से ही मन मे स्वरूपगत विशेषताएँ आ जाती हैं। कल्पवृक्ष के अस्तित्व को कोई प्रमाणित नहीं कर सकता, पर हमारी धार्मिक सस्कृति से संबद्ध रहने के कारण हम भाव-जगत् में उसकी स्थिति मानते हैं। कल्पवृक्ष के नाम-मात्र से हमारी आँखों के सामने एक ऐसी वस्तु आ जाती है जिससे जब जो चीज माँगी जाय देने को सदा तैयार है। यह तो हुई अगोचर प्रतीकों की बात, लेकिन जो गोचर प्रतीक हैं वे काव्य में कुछ विशेष प्रयोजन भी सिद्ध करते हैं। चद्र, कुमुदिनी, आकाश, समुद्र, हंस, पतग आदि हमारे मन मे विशिष्ट भावनाएँ जागरित करते हैं। चद्र से स्निग्धता, आह्लाद तथा शीतल ज्योत्स्ना का; कुमुदिनी से शुभ्र हास का, आकाश से उच्चता, अनतता, सूक्ष्मता का; समुद्र से अगाधता, गभीरता, प्रचुरता का; हस से विवेक, पक्षपातहीनता का और पतग से लगन तथा एकनिष्ठा के भाव-सकेत मिलते हैं।

हमारे काव्यों मे प्रतीको के प्रतीकवत् व्यवहार बहुत ही कम हुआ करते हैं। वे प्रायः अलकार-प्रणाली के भीतर उपमान के रूप मे प्रयुक्त किये गए हैं। प्रतीक और उपमान म सबसे बड़ा अतर

यही है कि प्रतीक केलिए सादृश्य के आधार की आवश्यकता नहीं, केवल उसमें भावोद्बोधन की शक्ति रहनी चाहिए; पर उपमान में सादृश्य के आधार का रहना आवश्यक है। वर्त्तमान कविताओं में अभिव्यजनावाद के प्रभाव के कारण उपमान का आधार विशेषतः प्रभावसाम्य तथा रमणीयता है। जैसे—

प्रतीक और उपमान

'धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना-दूती-सी तुम कौन ?'

—'प्रसाद'

प्रार्थना में जो विनम्रता है वही धरा पर झुकने के स्वरूप का आभास देती है। विना फूँक दिये मुरली मौन ही रहती है। 'मधुर' विशेषण प्राप्त करने केलिए मुरली को एक बार भी अवश्य अपना मौन-भंग करना पड़ा होगा और अब मौन हो जाने पर भी मुरली या व्यक्तित्व की विशेषता पहले ही लक्षित हो गई रही होगी। वेदना-दूती की भावात्मक सत्ता के साथ किसी स्थूलाकार उपमेय का सामजस्य काव्य में जीवन ला देता है। 'उद्भ्रात प्रेम' की पक्तियों से इसका बहुत सुदर स्पष्टीकरण होता है। 'मुख' के उपमान के रूप मे सादृश्य को छोड़ कर केवल प्रभाव-साम्य तथा रमणीयता पर दृष्टि रख कितनी मार्मिक अप्रस्तुत-योजना की गई है। "अहा ! वह मुखड़ा—क्यो कर कहूँ, वह मुखडा कैसा है ! याद आते ही छाती फटने लगती है, सिर चकराने लगता है, आँख और कान से बिजली की लपट निकलने लगती है, और रग-रग में, नस-नस में बिजली दौड़ जाती

है—तब क्यों कर बतलाऊँ कि वह मुखड़ा कैसा है ! वह न तो अप्सरा-कंठ से निकले हुए गीत-सा है, न तो दूर से आए वीणा के शब्द-जैसा है, न तो नदी के हृदय पर खेलते हुए अस्फुट चंद्रालोक में विरह-संगीत-जैसा है और न तो सद्यःप्रस्फुटित कुसुमों की भीनी-भीनी सुगंध लेकर बहती हुई निदाघ काल की संध्या-वायु-सा है। ' ' ' ' यहाँ 'मुख' उपमेय की तरह है और साथ ही मूर्त्त भी, किंतु मुख के उपमान-रूप में जो अप्सरा-कंठ के गीत, दूरागत वीणा के शब्द, चंद्रालोक में विरह-संगीत, कुसुम-सुगंध से भरी निदाघ की सांध्य वायु के वर्णन किए गए हैं वे वस्तुतः रूप-सादृश्य दिखाने केलिए नहीं, वरन् मुख को देखने के आह्लाद-सादृश्य के बोधक-मात्र हैं। यह दूसरी बात है कि उद्भ्रांत प्रेमी ने अपनी दिवंगता परिणीता के मुख के सम्मुख उनको हेय माना है। उस मुख को देखकर जितना आह्लाद होता था उतना अप्सरा-कंठ से निकले गीत को सुनकर भी नहीं होता। वीणा के शब्द और चंद्रालोक में विरह-संगीत को सुनकर, कुसुम-गंध से भरी निदाघ की सांध्य वायु के घ्राण तथा स्पर्श से हृदय में जो आह्लाद होता है वह उस मुख को देखने के आह्लाद के समान भी नहीं है। वह आह्लाद अनिर्वचनीय है। यहाँ आह्लाद ही मुख्य उपमेय है जो मुख में अध्यवसित कर दिया गया है।

प्रतीक-स्वरूप उपमान

सादृश्य-मूलक अलंकारों के उपमानों में बहुत थोड़े ऐसे हैं जिनमें प्रतीकत्व है। काव्य में अप्रस्तुत-योजना का मुख्य उद्देश्य है भावोत्तेजन। केवल आकार-प्रकार या नाप-जोख से मिले हुए उपमान भाव-बोध चाहे करा भी सकें, किंतु भावोत्तेजन के विचार से वे सदा असमर्थ रहेंगे। जो उपमान प्रतीक-स्वरूप हैं वे काव्य का बड़ा मार्मिक

विधान कर सकते हैं। यहाँ यह बात भूल न जानी चाहिए कि प्रत्येक देश के साहित्य में ऐसी कम ही वस्तुएँ रहती हैं जिनमे प्रतीकत्व मिलता है, लेकिन काव्य की अप्रस्तुत-योजना को इसी सीमा मे रखने से उसका व्यापार आगे नहीं बढ़ सकता। प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापार, तरह-तरह के दृश्यो से कवि अपनी सामग्री का सञ्चय करता है। उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नही लगाया जा सकता। इस सबंध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसे प्रकृति को देखने केलिए मार्मिक अ तर्दृष्टि चाहिए। इसी एक से उसका काम पूरा हो जायगा।

जिस अप्रस्तुत मे जितना ही प्रतीकत्व रहेगा उसपर की गई अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी। भ्रमर, कमल, हस आदि के ऊपर अप्रस्तुतत्व का बोझ बहुत दिनों से लदा हुआ है, किंतु उनमें प्रतीकत्व भी है, इसी कारण अबतक वे हमारी काव्याभिरुचि के बहुत बड़े बोझ नही बन सके हैं। रुचि पर बोझ पड़ते ही काव्य की अन्योक्ति मे सरसता नष्ट हो जाती है। अन्योक्ति पर विचार करते

प्रतीकत्व समय यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि केवल सादृश्य से उसका काम नही चलने का, अथवा यही कहा जा सकता है कि रूप-सादृश्य का उसमें कुछ प्रयोजन ही नहीं। जैसे—

'काल कराल परै कितनो
पै मराल न ताकत तुच्छ तलैया,

इस अन्योक्ति का तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष विपन्न होने पर भी अनुचित कार्य की ओर नही झुकते। अब यहाँ यह स्पष्ट है कि मराल—हस—और विवेकी पुरुष में कुछ भी रूप—साम्य नहीं है, बल्कि इसके विपरीत केवल भिन्नता—ही—भिन्नता है। हस के प्रति विवेक की जो धारणा हमारे चित्त मे बद्धमूल है वही उसमे और

विवेकी पुरुष में साम्य की स्थापना करती है ।

अन्योक्ति में समता का उल्लेख दोष माना जाता है, अतएव अप्रस्तुत और प्रस्तुत के साम्य की भावना ऐसी व्यापक होनी चाहिए जिससे अन्योक्ति सुनते ही अप्रस्तुत का आरोप प्रस्तुत पर किया जा सके। इस प्रकार साम्य—स्थापन केवल उपमान या रूढ उपमान के बल पर नहीं किया जा सकता। प्रतीकत्व के बिना यह संभव नहीं, प्रतीक में साम्य की क्षमता स्वभावतः रही है।

लाक्षणिक प्रतीक

लाक्षणिकता के बल पर आधुनिक कविताओं में कुछ ऐसे उपमान भी रखे जाते हैं जिनमें उपमान के गुण तो पूरे नहीं रहते, किंतु प्रतीकत्व मिलते हैं। ऐसे उपमानो के विधान में प्रायः लाक्षणिक चमत्कार दिखाने केलिए धर्म के स्थान में धर्मी का उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग शुद्ध प्रतीक नहीं, बल्कि लाक्षणिक प्रतीक हैं।

जैसे—

करुण भौहो में था आकाश,
हास में शैशव का संसार;
तुम्हारी आँखो में कर वास
प्रेम ने पाया था आकार!
उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस।

—पंत

कवि की कल्याणी की करुण भौंहों मे उच्चता का आभास था, यह न कहकर आकाश ही कहा गया। उसकी हँसी विश्व के पक्षपातपूर्ण वातावरण से निरपेक्ष थी, शुद्ध थी, इसके लिए शिशुओं का ससार उठा लिया गया। हृदय में उल्लास था, यह न कहकर उषा का आवास ही बता दिया गया। मुख से—वाणी के—जो उद्गार निकलते वे रमणीय होते थे, न कहकर अधखिली कली का मृदुल विकास ही उसमें दिखाया गया। कवि की मनोरमा का स्वभाव बहुत ही स्निग्ध तथा आह्लादक था, यह बताने केलिए उसने चॉदनी की शरण ली। विचारों के भोलापन के उपमान केलिए बच्चों से बढकर भोला कहॉ मिलता! 'बच्चों के साँस' से कवि ने इसी भोलेपन का निर्देश किया है।

लाक्षणिक प्रतीक और शुद्ध प्रतीक

अब यहॉ यह देखना है कि शुद्ध प्रतीक और लाक्षणिक प्रतीक मे कितना अंतर है। उपर्युक्त पक्तियों में आकाश और उषा शुद्ध प्रतीक माने जायँगे, परतु शैशव का ससार, मुकुल का मृदुल विकास, चॉदनी का भास तथा बच्चों की सॉस के प्रतीकत्व लक्षणा के सहारे व्यक्त हुए हैं। अतएव उल्लिखित वाक्य-खड लाक्षणिक प्रतीक के ही उदाहरण माने जायॅगे। आधुनिक हिंदी कविताओं में ऐसे प्रयोग सीधे अगरेजी से आए हैं। सुकवि सुमित्रानंदन पत को छोड़ कर हिंदी के अन्य कवियों की रचनाओं में लाक्षणिक प्रतीक के प्रयोग बहुत ही कम मिलते हैं।

प्राचीन काव्य-परपरा में जो उपमान हैं उनमें से कुछ तो विशुद्ध

'कवि-समय' सिद्ध हैं, प्रमाण की आवश्यकता नहीं और कुछ ऐसे हैं जो काव्य की रसोद्भावना के साधक न होकर बाधक ही होते हैं। नायिका की नाक केलिए सुग्गे की चोंच, कमर केलिए सिंह या भीड़ की कमर और जाघ केलिए हाथी की सूँड़ में चाहे थोड़ा रूप-सादृश्य मिले भी, किंतु उनमें रमणीयता कहाँ है जो काव्य को वस्तुतः अनुप्राणित करती है।

प्राचीन उपमानों की रस-बाधकता

छठा अध्याय

अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान

आजकल काव्य में कई प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से लक्षित हो रही हैं। ये प्रवृत्तियाँ अधिकांशतः भारतीय साहित्य की होने पर भी विदेशी साहित्य की प्रवृत्तियो से विशेपतः प्रेरित हुई हैं। लक्षणा तथा साध्यवसान रूपक द्वारा कभी-कभी सूक्ष्म का वहुत ही मार्मिक मूर्त्त-विधान किया जा सकता है। लाक्षणिक प्रयोग प्रायः उसी समय किए जाते हैं जब भाषा की अभिधा-शक्ति भावों को स्पष्ट तथा तीव्र करने मे असमर्थ हो जाती है या जब किसी भाव-विशेष की वक्रता-पूर्ण व्यजना करना अभीष्ट होता है। लक्षणा करने में सभी कवियो की क्षमता समान नहीं रहती। इसी कारण इसके मार्मिक तथा काव्योपयुक्त प्रयोग केलिए कवियों को जन-समाज की अनुभूति तथा विचार-परपरा पर विशेप ध्यान देना आवश्यक है। जो भाव जितनी ही विस्तृत जन-मडली की अनुभूति के अनुकूल होते हैं उनपर की गई लक्षणा उतनी ही वोधगम्य तथा मर्म-स्पर्शी होती है। आजकल लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता के कारण वहुधा कविगण लक्षणा के ऊपर भी लक्षणा कर देते हैं। अगरेजी भाषा में लाक्षणिक चपलता अधिक है, इसका कारण केवल उस भापा की ऐसी विशेपता ही नहीं, वरन् वैसे अनेक प्रयोगों से जन-समाज का परिचित-रहना भी है। जो भापा जितनी मँजती रहती है उसमें लाक्षणिकता केलिए उतनी ही सुविधा रहती है। हिंदी में कुछ कवियों ने शुद्ध अनुकरण के वल पर वेढगा लाक्षणिक

लाक्षणिक प्रयोग की विशेपता

चमत्कार दिखलाया है जिससे भाषा और भाव की दुरूहता ही बढ़ी है। ऐसे चमत्कार-प्रदर्शन से भाव को तो कोई आधार मिलता नही, भाषा की मौलिक विशेषता मारी जाती है। सुदर लाक्षणिक प्रयोगो से भाषा तथा साहित्य का वैभव अवश्य बढता है; अतएव कुशल तथा कृतविद्य कवियों को ही इस ओर हाथ बढ़ाना चाहिए।

लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता का कारण

हिंदी काव्य में लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता से जो नई विशेषता आई है उसे हिंदी के उद्भट तत्त्वान्वेपी समालोचक तक पसद करते तथा मानते हैं १। पर इस प्रकार की पसद और स्वीकारोक्ति की एक सीमा है जो अपने स्थान पर ठीक है। आजकल प्रायः जीवन के मार्मिक पक्षों की ओर से कवियो का ध्यान हटकर वैचित्र्य-प्रदर्शन की ओर जाने

१"खड़ी बोली की कविता जिस रूखी-सुखी चेष्टा के साथ खड़ी हुई थी उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ी बोली की कविताओं में उपमा-रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे, पर लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता ओर भापा की विमुक्त स्वच्छंद गति नही दिखाई देती थी। अभिव्यजनावाद के कारण योरप के काव्य-क्षेत्र की उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति जो हिंदी के वर्त्तमान काव्य-क्षेत्र में आई उससे खड़ी बोली की कविता की व्यंजना-प्रणाली मे बहुत-कुछ सजीवता तथा स्वच्छदता आई। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्य-भापा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई कि अप्रस्तुतो या उपमाओं के रखने मे केवल सादृश्य-साधर्म्य पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी है।"

—रामचद्र शुक्ल' भापण—(हि० सा० संमेलन, इंदौर, स० १९९२ वि०)

लगा है। काव्य के स्वाभाविक विकास तथा बोधगम्यता में ऐसी रुचि से बड़ी बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इस बेढंगी शब्द-भंगी के अपरिमित प्रचार का कारण सपूर्णतः हमारी अज्ञानता से ही सबध नहीं रखता। इसकी उत्पत्ति प्रतीकत्व से हुई-सी जान पड़ती है। इस प्रतीकत्व का आधार तो मूर्त्ति-पूजा को मानना ही पड़ेगा। इन्हीं प्रतीकों के सहारे सूक्ष्म भावों का मूर्त्त-विधान किया जाता है; काव्य के प्रतीकवाद (Symboism या Deadent) के कारण नहीं। जी ललचने को 'रसनाएँ' लपलपा रही हैं, व्यथा उत्पन्न होने को 'व्यथा जगती है', आदि कहने से तत्सबंधी भावों के गोचर रूप उपस्थित हो जाते हैं। अमूर्त्त से मूर्त्त में यदि इतनी विशेषता न रहती तो प्रागैतिहासिक काल से अगणित पत्थरों के टुकड़ों पर छेनियों की मार न पड़ती, उन स्थानो पर दो-चार छदो को खोद कर ही छोड़ दिया जाता। काव्य में भावना का मूर्त्त-विधान किया जाता है, स्थूल मूर्त्त का विधान असभव है। चित्र या मूर्त्तिकला एक ऐसी भाषा है जिसे ससार के सभी देशों तथा जातियो के मनुष्य समझ सकते तथा उससे भाव-ग्रहण कर सकते हैं। सूक्ष्म के मूर्त्त-विधान में इस बात पर अवश्य ध्यान देना आवश्यक है कि वह हास्यास्पद न हो जाय। जिस भाव के जो धर्म हैं उनसे अधिक की विवृति से पाठको के चित्त में विकृति नितांत संभावित है। अभिलाषा के जगने तक से हम उसका लाक्षणिक भाव समझ लेते हैं, पर लक्षणा के ऊपर लक्षणा लादकर उससे 'करवट' बदलवाना ठीक नहीं। यदि कोई कहे—'मैं दवा लाने अस्पताल जा रहा हूँ, कल से मेरी अभिलाषा को ज्वर आ गया है' तो हँसी के सिवा और कौन-सा भाव उत्पन्न होगा! प्रत्येक भाव की मनोवैज्ञानिक

लक्षणा पर लक्षणा

विशेषताओं पर ध्यान रखकर ही मूर्त्त-विधान करना अच्छा है। भावो को गोचर बनाने की प्रवृत्ति का विकास अब धीरे-धीरे गद्य में भी होने लगा है। प्रेमचदजी को कविता से प्रकटतः कोई संबंध नहीं है, रहस्यवाद तो उसके आगे की चीज है। उनकी रचना में भी गोचर-योजना मिलती है। 'दिल की रानी' कहानी में है—'मानव रक्त का प्रवाह सगीत का प्रवाह नहीं है, रस का प्रवाह नहीं, वह ऐसा वीभत्स दृश्य है जिसे देखकर आँखें मुँह फेर लेती हैं, हृदय सिर झुका लेता है।' आँखों के मुँह और हृदय के सिर होते हैं, यह जान कर, सभव है, बहुत से समालोचक घबड़ा उठें, किंतु एक निश्चित सीमा के भीतर रहकर इस प्रवृत्ति से साहित्य का थोड़ा वैभव बढ़ेगा, इसमें संदेह नहीं।

लाक्षणिक प्रवृत्ति का विकास

सूक्ष्म भावो की अनुभूति जब विशेष गभीर हो जाती है या जब सूक्ष्म भावों की गभीर व्यजना करना अभीष्ट होता है तब सूक्ष्म भावों को मूर्त्त—गोचर—बना दिया जाता है। जो हृदय का केवल भाव-मात्र है उसमें यदि मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण की योग्यता लाई जाय तो स्वभावतः उसकी प्रभविष्णुता बढ़ जायगी। जैसे—

सूक्ष्म का मूर्त्त

'सुख आहत शांत उमगें
बेगार साँस ढोने में
यह हृदय समाधि बना है
रोती करुणा कोने में

× × ×

उच्छ्वास और आँसू मे
विश्राम थका सोता है
रोई आँखों में निद्रा
बन कर सपना होता है।
× × ×
इस करुणा-कलित हृदय में
क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यो हाहाकार स्वरो में
वेदना असीम गरजती ?'

—प्रसाद

इसमें सुख आहत शांत उमगो का साँस ढोना और हृदय को समाधि बनाकर करुणा को कोने में रुलाना, उच्छ्वास और आँसू में थके विश्राम को सुलाना और निद्रा बनकर सपना होना, करुणा-कलित हृदय मे विकल रागिनी का बजना तथा हाहाकार स्वरो मे वेदना का असीम गरजना मार्मिक लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता है। उमगो में भार ढोने की क्षमता की कमी नहीं, करुणा के विश्लेषण मे इस बात के स्पष्ट लक्षण मिलते हैं कि यदि करुणा दूसरो के लिए न रो सकी तो अपनी इस असमर्थता पर वह, स्वयं रोने लगती है। विश्राम को थक कर सोने केलिए उच्छ्वास और आँसू की गोद से बढकर सुखकर स्थान नहीं मिल सकता। करुणार्द्र हृदय की अशांति स्वभाव-सिद्ध है, रागिनी मे थोड़ी-सी ठेंस लगते ही वह झनझना उठती है, फिर जो रागिनी स्वतः विकल है वह करुणा की चोट से क्यो न बज उठे! हृदय की रागिनी के बजते ही वेदना शांत नहीं रह सकती, वह निश्चय ही हाहाकार स्वरों में गरज उठेगी।

'है विषाद का राज तडपता
बंदी बनकर सुख मेरा ;
कैसे मूर्च्छित उत्कठा की
दारुण प्यास बुझाऊँगा ?
सहमी-सी हैं खड़ी, कही
ये टूट न जायें दीवारें।
करुणा की आँखें बरसाती
तप्त आँसुओ की धारे।'

—द्विज

विषाद के राज्य में कवि का सुख बंदी बन कर तडप रहा है। उसे यह पता नहीं कि वह अपनी उत्कठा—मूर्च्छित उत्कठा—की दारुण प्यास कैसे बुझा सकेगा। सुख का मूर्त्त-रूप मे तड़पना तथा उत्कठा का, जो हृदय की उच्छ्‌वसित तथा अव्यक्त भावना है, विषाद के राज्य में मूर्च्छित होना स्वाभाविक व्यापार हैं। सुख के दिनों में प्रत्येक उत्कठा की पूर्त्ति सभव है, पर जब सुख स्वय बदी हो गया हो और विषाद का राज्य हो तब उत्कठा का अपने विनाश की आशका से मूर्च्छित होना मनोवैज्ञानिक विशेषता है। ऐसी स्थिति में उत्कठा की प्यास बुझाना—उसकी पूर्त्ति करना—वस्तुतः एक समस्या है। दीवारो के सहम कर खड़े होने में जो प्राण-स्पंदन-मय जीवन की झलक है उसमें उनके गिरने का सशयमय वातावरण भी है। यहाँ करुणाभाव की अनुभूति इतनी गभीर हो गई है कि कवि को करुणापूर्ण आँखो के बदले करुणा की आँखे कहने में ही अच्छा लगता है। करुणा को आँखें भी होती हैं या नहीं, यह विचारने केलिए कवि अवकाश नहीं चाहता। वह इसी बात को

समझ कर प्रसन्न हो जाता है कि करुणापूर्ण आँखों की जगह यदि स्वय करुणा की आँखें ही आँसू बरसाने लगें तो इस प्रकार भाव की गभीरता बहुत बढ जाती है। दूसरों की देखी घटना और स्वयं अपनी आँखो-देखी घटना के मर्म में बड़ा अतर है। प्रेम को अंधा बनाकर कवियों ने प्रेमियो को गली-गली का भिखारी बना चाहे जितनी खाक छनवाई हो, पर दूसरों के प्रोत्साहन ने करुणा घड़ियाली आँसू नही बहा सकती।

'लूट लेंगे मुझ को ये लोभ
समेटो इनकी भीड़ अपार।'

—द्विज

लोभ किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति कराने वाली वृत्तियों का पोषक है। उसका पहला सवेदनात्मक अंग है सुख और इसको प्रेरित करती है सुख का उपभोग करानेवाली वासना। लोभ में अपनी वस्तु की सरक्षा और दूसरे की वस्तु को हड़पने का भाव रहता है, किंतु यहाँ स्वयं लोभी का ही लोभ से लूटे जाने की उक्ति से लोभ साकार बनकर लुटेरों का सधर्मी हो गया है।

'रोता था सिसक-सिसक कर
अरमान अधूरे जलते
हँसती थी मौत निगोड़ी
आशा अटकी कर मलते।'

—विमल

अधूरे अरमानो के जलने, मौत के हँसने तथा आशा का अटक कर हाथ मलने से सूक्ष्म का बड़ा सुंदर मूर्त प्रत्यक्षीकरण होता है।

वर्णन सजीव-सा हो गया है। इसी को देखकर कवि सिसक-सिसक कर रोने को बाध्य हुआ।

'स्मृतियाँ बेहोश पड़ी हैं
तुम आज न उन्हें जगाते
कवि ऐसे अँधियाले में
दीपक क्यों तुम न जलाते ?'

—सुहृद्

स्मृतियों के बेहोश पड़े रहने मे मुमुर्ष जीवन का गोचर-विधान किया गया है और उन्हें न जगाने या जगाने मे भी वही मूर्त्तिमत्ता है।

'लोग आँकते हैं सुख की कीमत शत-शत लाखों में
सुनते हैं, अभिमान नाचता प्रभुता की आँखो में'

—कैरव

प्रभुता की आँखो में अभिमान के नाचने का गोचर-विधान किया गया है। प्रभुता की आँखो से अंगी में अन्यान्य अंगोपाग की सभावना झलकती है और नाचने केलिए अभिमान को, और कुछ नही तो, दो पाँव अवश्य चाहिए। अभिमान और प्रभुता में प्रत्यक्षीकरण की योग्यता लाई गई है।

धर्म केलिए धर्मी का प्रयोग

लक्षणा के सहारे काव्य में एक और प्रवृत्ति लक्षित हो रही है, वही है धर्म के स्थान में धर्मी का प्रयोग। इस प्रकार का प्रयोग अन्य लाक्षणिक प्रयोगों से अपेक्षाकृत कठिन है। इसमें किसी वस्तु के गुण या धर्म के बदले उसी वस्तु का उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार के उल्लेख में यह ध्यान मे अवश्य रखना चाहिए कि काव्य में गुण या धर्म के

लिए जिस वस्तु का उल्लेख किया जाय वह विशेषतः अपने उसी गुण या धर्म केलिए प्रसिद्ध हो। यदि उस वस्तु में वैसी विशेषता न रही तो काव्य का चमत्कार भी लक्षित न होगा और उस वस्तु से अभिप्रेत गुण या धर्म की ही विशेषता प्रकट होगी। पिछले अध्याय में लाक्षणिक प्रतीक की चर्चा करते हुए हमने कविवर सुमित्रानंदन पंत की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। विविक्त उदाहरण के अभाव में हम पुनः उन्हें उद्धृत करते हैं।

'उषा का था उर में आवास
मुकुल का मुख में मृदुल विकास
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस।'

—पंत

उषा, मुकुल, चाँदनी तथा बच्चों के जो गुण या धर्म हैं उनका उल्लेख न कर उन वस्तुओं का ही उल्लेख कर दिया गया है। यही इस प्रकार के प्रयोग की विशेषता है।

सातवाँ अध्याय

मूर्त्त का अमूर्त्त-विधान

काव्य में अमूर्त्त को मूर्त्त बनाने की जो प्रवृत्ति है वही मूर्त्त को अमूर्त्त बनाती है। सूक्ष्म भावों को गोचर स्वरूप देने केलिए मनोविज्ञान की जिन विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है उनसे गोचर स्वरूपों को सूक्ष्म बनाने में प्रायः सहायता नहीं मिलती। एक दूसरे का परिवर्त्तित रूप होने पर भी दोनो के भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। सूक्ष्म भावों का गोचर-विधान थोड़ी-सी सावधानी के साथ किया जा सकता है, पर मूर्त्त को सूक्ष्म भाव बनाने में बड़ी सतर्कता चाहिए। सूक्ष्म में स्थूल की सारी विशेषताएँ लक्षित हों, यह प्रश्न नहीं है, किंतु जिस विशेषता केलिए मूर्त्त वस्तु प्रसिद्ध हो उसकी अवस्थिति तो निश्चय ही चाहिए। यदि किसी मूर्त्त वस्तु मे अनेक गुण हो तो उसको भावात्मक बनाते समय किसी एक ही प्रयोजनीय गुण पर दृष्टि रखनी चाहिए। भावों की समष्टि से मूर्त्त की एकरूपता का आभास नहीं मिलता और जब एकरूपता मिलती नहीं तब मूर्त्त का प्रयोजनीय बिंब-प्रतिबिंब भाव भी नष्ट हुआ समझिए।

मूर्त्त तथा अमूर्त्त का विवेचन

स्थूल वस्तु के प्रति जब मनोवृत्ति को गभीर करना अभीष्ट होता है या पाठकों को विचार-तत्पर करना होता है तब वस्तु की मूर्त्तिमत्ता को हटा कर केवल उसकी भावात्मक सत्ता का विधान किया जाता है। प्रत्येक मूर्त्त को सूक्ष्म भाव में परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता। वैसे मूर्त्तों का

मूर्त्त का अमूर्त्त विधान

अमूर्त्त-विधान बड़ी सरलता से किया जा सकता है जिनमें भावों या विचारो का गूढ अतर्न्यास रहता है। गुण या धर्म की मुख्य विशेषता भी अमूर्त्त-विधान में बड़ा योग देती है। जैसे—

'यात्री हूँ अति दूर देश का पल भर यहाँ ठहर जाऊँ
थका हुआ हूँ, सुंदरता के साथ बैठ मन बहलाऊँ
'एक घूँट बस और' हाय रे! ममता छोड़ चलूँ कैसे
दूर देश जाना है, लेकिन यह सुख हाय! कहाँ पाऊँ।'

—दिनकर

इहलोक से परलोक जानेवाले थके पथिक की इच्छा होती है कि वह इहलोक मे थोड़ी देर ठहरकर जीवन के आनद का कुछ और उपभोग कर ले। कवि ने सुंदरी स्त्री के प्रति पाठको को विशेष रूप से विचारोन्मुख करने केलिए 'सुदरता'—पद का प्रयोग किया है। सुंदरी स्त्री से सुंदरता में यह विशेषता आई कि कुरूपा के साथ भी यदि पथिक की तबियत बहल जाती तो प्रधान रूप से सौंदर्य का उल्लेख न होता और न स्त्रीत्व का अध्यवसान ही पूर्ण रूप से 'सुदरता' में किया जाता।

'सो देखा चाँदनी एक दिन राज अमा पर छोड़ गई
खिजाँ रोकती रही लाख कोयल वन से मुँह मोड़ गई
और आज क्यारी क्यों सूनी? अरे बता किसने देखा
गलबाहीं डाले सुदरता काल-संग किस ओर गई।'

—दिनकर

इसमे यदि केवल सुदरता के नष्ट होने का वर्णन रहता तो यह सूक्ष्म का ही सक्ष्म रहता, पर कवि ने बड़ी चतुरता से गलबाहीं दिला

कर और 'जाना' क्रिया (भूतकाल-गई) का प्रयोग कर मूर्त्तिमती सुदरी स्त्री की त्वचा पर से सुदरता को उतारा नहीं, बल्कि काव्य की रासायनिक क्रिया से मूर्त्त सुदरी स्त्री को ही अमूर्त्त सुदरता में परिणत कर दिया।

'जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा
(कौन जाने, किस तरह ?) पीयूष-सा
एक कोमल समव्यथित निःश्वास था
पुनर्जीवन-सा मुझे तब दे रहा।'

—पंत

पतजी की 'ग्रथि'–नामक कविता–पुस्तक का नायक एक ताल में डूब गया था। एक नायिका ने उसे ताल से वेहोश निकाला और उसका बड़ा उपचार किया। जब उसकी वेहोशी की नींद टूटी तब उसे मालूम पड़ा कि एक नायिका बड़ी अनुकपित होकर उसको अनुप्राणित कर रही है। उस मूर्त्तिमती नायिका को कवि ने समव्यथित निःश्वास में परिवर्त्तित कर दिया है। नायक की संज्ञा-शून्यता के कारण नायिका का सुकुमार हृदय बार-बार स्पंदित हो रहा था। हृदय की ऐसी स्थिति में श्वास-प्रश्वास की गति प्रायः असाधारण हो जाया करती है। कवि ने यही लक्ष्य किया और मूर्त्त नायिका को अमूर्त्त बनाते समय इसी निःश्वास को प्रधानता दी। निःश्वास को प्रधानता देने से सबसे मार्के की बात तो यह हुई कि संज्ञा-शून्य को पुनर्जीवित करने केलिए निःश्वास से बढकर और कौन-सा साधन मिलता! नायिका ने अपनी सेवा-शुश्रूषा से नायक को मृत्यु के मुख से बचा लिया, फिर निःश्वास का सारा प्रयोजन ही सिद्ध हो गया।

'म्लान तम में ही कलाधर ही कला
कौमुदी बन कीर्त्ति पाती है धवल,
दीनता के ही विकंपित पात्र मे
दान बढकर छलकता है प्रीति से।
प्रिय! निराश्रिति की कठिन बॉहें नहीं
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन भार से,
अल्पता की सकुन्चित ऑखें सदा
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से।'

—पंत

जिस प्रकार अंधेरी रात में ही चंद्रमा की किरणे विशेष रूप से समुद्भासित होती हैं उसी प्रकार दीन मनुष्य के कॉपते हुए हाथ मे ही दान की वस्तु छलकती है। यहॉ दीन मनुष्य को दीनता बनाकर कवि ने दैन्यभाव को कूट-कूट कर भर दिया है। वह मनुष्य दीनता-ही-दीनता है, विशेप कुछ उसके पास नहीं। 'दीनता'-पद के प्रयोग से कवि ने पाठको की मनोवृत्ति को गंभीर करने का प्रयत्न किया है। विकंपित पात्र में दान का छलकना बड़ा सुंदर चित्रण है। निराश्रिति की मजबूत बॉहे प्रलोभन भार से दबती नहीं। तुच्छ मनुष्य की ऑखें थोड़ी-सी सहृदयता से ही भर आती हैं। 'अल्पता' का प्रयोग कर कवि ने, तुच्छ मनुष्य मे अल्पता—तुच्छता—का जो भाव रहता है उसी ओर, पाठकों को विचार-तत्पर किया है। जिस मनुष्य को कभी किसी से कुछ सहृदयता नहीं मिली उसे यदि किसी से कभी थोड़ा भी अपनाव मिल गया तो उसकी ऑखें स्वभावतः कृतज्ञता से उमड आती हैं। सकुचित का अल्प

से उमड़ने के वर्णन मे कवि ने अपनी इसी व्यापक अंतर्दृष्टि से काम लिया है।

'स्वप्न के सस्मित अधर पर, नींद में
एकबार किसी अपरिचित साँस का
अर्ध चुंबन छोड़, मैं झट चौंक कर
जग पड़ी हूँ अनिल-पीडित लहर-सी।'

—पंत

इसमें अपरिचित पुरुष के स्थान में अपरिचित साँस का प्रयोग किया गया है। मूर्त्त से अमूर्त्त में यहाँ यह विशेषता आ गई है कि स्वप्न में किसी मूर्त्त का चुंबन या अर्द्ध चुंबन संभव नहीं, जगने पर ही यह हो सकता है, पर अपरिचित साँस के सूक्ष्म अस्तित्व का अर्द्ध चुंबन स्वप्नावस्था में बहुत संभव है। नायिका के अनिल-पीड़ित लहर-सी झट चौंककर जग पड़ने केलिए अपरिचित साँस ही उत्तरदायी है, परिचित साँस से इतना घबड़ाने की जरूरत न थी।

धर्मी केलिए धर्म का प्रयोग

पिछले अध्याय में हम धर्म केलिए धर्मी के प्रयोग की चर्चा कर आए हैं। यहाँ हम धर्मी केलिए धर्म के प्रयोग का उल्लेख करेंगे। इस प्रकार के प्रयोग मूर्त्त के सूक्ष्म-विधान के ही अंग हैं। दोनों में नाम-मात्र की भिन्नता है। कभी-कभी तो दोनो एक ही होते हैं।

'किये गीली पलकों में बंद
लजीली आँखों का अनुरोध
प्रणय के चरणों पर चुपचाप
चढ़ा मैं देता शीश अबोध।'

—द्विज

प्रणयी कहने से केवल एक धर्म-विशेष को अंगीकृत करनेवाले का बोध होता है, पर 'प्रणय'-पद से ऐसा मालूम होता है कि उसके शिर से पाँव तक प्रणय-ही-प्रणय भरा हो। प्रणयी और प्रणय में इस प्रकार कितना अंतर पड़ जाता है! अपराधी कहने से ऐसा मालूम होता है कि किसी ने कोई अपराध किया हो, पर उसे यदि अपराधी न कहकर काव्य-चातुर्य से अपराध की मूर्त्ति ही कहा जाय तो उस में कितने भावों की समष्टि मिलेगी! यहाँ कवि ने धर्मी-प्रणयी —के बदले धर्म—प्रणय—का प्रयोग इसी चतुरता से किया है।

'न होगी कुछ भी अनुचित उक्ति,
कहूँ जो मैं करके कुछ गर्व।
जगत के धन, बल, यश, सौंदर्य
पधारे हुए वहाँ थे सर्व।'

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

यह पिछले दिल्ली-दरबार के संबंध की उक्ति है। उसमें देश-विदेश के धनी, बली, यशस्वी तथा सुंदर पुरुष पधारे थे। कवि ने अपनी उक्ति को विशेष व्यापक तथा गंभीर बनाने के विचार से धर्मियों को छोड़कर केवल धर्म—धन, बल, यश तथा सौंदर्य के प्रयोग किए हैं। संदेह नहीं कि कवि की आशा फलवती हुई है।

आठवाँ अध्याय

अभिव्यंजना की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ

भाषा में प्रायः वाचक और धर्म लुप्त रहते हैं। पूर्णोपमालंकार में वाचक और धर्म को मिटा कर उपमेय पर ही उपमान का आरोप करने से वह रूपक (Metaphor) हो जाता है। अतः रूपक एक प्रकार की उपमा ही है। इस प्रकार की उपमा से शब्दो के नये अर्थ निकलते हैं। सुराही का गला, पहाड़ की चोटी, खाट का पौवा आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। जब शब्द घटते हैं तब उपमा का आश्रय लेना पड़ता है, किंतु ऐसी उपमाओं के सभी लक्षण गौण रहते हैं और केवल विशेषणो से ही उनके अस्तित्व का आभास मिलता है। ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त जो अनुभूतियाँ हैं उनके ही द्वारा दूसरे शब्दो का अर्थ-ग्रहण किया जाता है। कडुवी बात, गंदी आदत, सुंदर स्वाद आदि प्रयोग इसी तरह के हैं। यह प्रवृत्ति तो बहुत पुरानी है, पर आधुनिक काव्य में इसका प्रवेश बहुत दूर तक हो गया है। कहना नहीं होगा, इस प्रकार इसका दूर तक चला जाना लक्षणा वृत्ति के सिवा दूसरे सूत्र से संभव नहीं है। किसी कथन को विशेष अर्थ-गर्भित तथा गंभीर करने के विचार से विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है। अभिधा वृत्ति से विशेषण की जहाँ जगह है वहाँ से हटा कर लक्षणा के सहारे उसे दूसरी जगह बैठा देने से काव्य का सौष्ठव कभी-कभी बहुत बढ जाता है! भावाधिक्य की व्यंजना केलिए विशेषण-विपर्यय अलंकार का व्यवहार बहुत सुंदर है। जैसे—

विशेषण विपर्यय का मूल

उदाहरण

'भीख की भूखी झोली छीन,
मान सच, कुछ भी पायेगी न।
छान सूने मसान की खाक,
हाथ कोई निधि आयेगी न।'

—द्विज

लक्षणा से यहाँ भूखी झोली का अर्थ खाली झोली समझ में आ जाता है, क्योंकि पेट खाली रहने पर ही भूख लगती है, किंतु इसके भीतर एक विशेष्य छिपा हुआ है जो भिखारी की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। भूखा है वास्तव में वह भिखारी ही, पर व्यजना की गई है भूखी झोली की। ऐसा करने में काव्य-चमत्कार आ गया है। प्रभाव की क्षमता बढ गई है।

'अकेली आकुलता-सी प्राण!
कहीं तव करती मृदु आघात
सिहर उठता कृश-गात
ठहर जाते हैं पद अज्ञात।'

—पत

इसमें कवि ने अकेलेपन की आकुलता केलिए अकेली आकुलता का व्यवहार किया है।

'किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछती वे दृग-नीर
× × ×
आज निद्रित अतीत में वद
ताल वह, गति वह, लय वह छद
× × ×

चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृंदा-धाम ?'

—निराला

उपर्युक्त पक्तियो में गोद के साथ तृषित, अतीत के साथ निद्रित तथा पनघट के साथ व्याकुल विशेषणो के प्रयोग किए गए हैं। गोद स्वयं तृषित नहीं हो सकती, किसी तृषित व्यक्ति की गोद ही इसका तात्पर्य है, पर कवि ने यहाँ केवल विशेषण का विपर्यय ही नहीं किया है, वरन् अमूर्त्त को मूर्त्त बनाने की प्रवृत्ति के अनुसार जिसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं विनोद को गोद के सबध से मूर्त्त बना दिया गया है। निद्रित कोई जीव ही हो सकता है, परतु अतीत को निद्रित बनाकर अर्थ में विशेषता लाई गई है। पनघट स्वय किसी केलिए व्याकुल नहीं हो सकता, हृदय के अभाव में उसे यह क्षमता ही नहीं, लेकिन लक्षण-लक्षणा के अनुसार पनघट से पनघट पर आने-जानेवाली गोपिकाओ का भाव लेकर कवि ने काव्य की मार्मिकता को बहुत बढा दिया है।

इसी तरह की एक और प्रवृत्ति आजकल लक्षित हो रही है जिसमें मनुष्य की विशेषता या भावना का आरोप विशेषण बनाकर, उसके किसी एक अंग पर ही, कर दिया जाता है।

अंग में भावपूर्ण विशेषण

इससे काव्य में विशेषता यह आती है कि मनुष्य के जिस किसी अग से प्रयोजन रहता है उसी को प्रधानता मिलती है और अर्थ की स्पष्टता केलिए अग से अंगी का बोध हो ही जाता है।

'तेरे क्रदन तक में सुगान,
सुनते हैं जग के कुटिल कान;
लेने में ऐसा रस महान

हम चतुर करें किस भाँति चूक
ओ कोइल, कह, यह कौन कूक ?

—मैथिलीशरण गुप्त

इसमें 'जग के कुटिल कान' से जग के कुटिल मनुष्यों के कानों का ही बोध होता है।

'देखते कहीं सहसा जो
मोहक सौंदर्य किसी का
लालची लोचनों के तो
मुँह में पानी भर आता !'

—विश्वनाथ प्रसाद

इसमें लालची व्यक्ति के लोचनों केलिए उसके लोचनों को ही लालची बना दिया गया है। जिस अंग से जिस भाव का बोध स्पष्ट हो सके उसमें ही उसके आरोप से अर्थ की गंभीरता बढ़ जाती है।

'वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व इसका परम पद
वेदना का ही मनोहर रूप है
वेदना का ही स्वतंत्र विनोद है।'

—पंत

'वेदना के ही सुरीले हाथ से, से अमूर्त्त के मूर्त्त का बोध होता है, किंतु 'सुरीले हाथ का प्रयोग कर कवि ने अपनी मार्मिक अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है। साधारणतः हाथ के साथ सुरीलेपन का कोई संबंध नहीं, पर काव्य मे सुंदर प्रयोग के कारण 'सुरीले हाथ'

में आलंकारिक प्रभाव की क्षमता आ गई है। सुरीली आवाज को सुनकर हृदय में जो आह्लाद होता है वैसा ही भाव उसके हाथ की कृति को देखकर हृदय में होता है। इसी कारण केवल प्रभाव-साम्य पर दृष्टि रखते हुए कवि ने 'सुरीले हाथ' का प्रयोग किया है।

'यह सग्रह किस लिए ? हाय
इस जग में क्या अक्षय है
अपने क्रूर करों से छूता
सबको यहाँ प्रलय है।'

—दिनकर

यहाँ प्रलय को मूर्त्तिमान बनाकर कर-निर्देश किया गया है। 'क्रूर' का सबध सीधे प्रलय से न रखकर 'कर' के साथ कर दिया गया है। मनुष्य जो कुछ अकाड ताडव करता है वह प्रायः हाथो से ही। मूर्त्तिमान प्रलय भी अपने करों से ही किसी को छूएगा। उसका छूना बड़ा क्रूरता-पूर्ण व्यापार है। अतः इस व्यापार मे जो अग प्रधान साधन है उसी के साथ 'क्रूर' विशेषण को मिलाना युक्तियुक्त है।

कभी-कभी मूर्त्त-विधान की प्रवृत्ति से काव्य में अग को अगी बना दिया जाता है। यह प्रवृत्ति किस प्रकार गद्य में भी चल पड़ी है,

अंग से अंगी का बोध

इस बात की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। मानव शरीर का जो एक अंग-मात्र है उसके साथ भी किसी दूसरे अग का संबंध जोड़ दिया जाता है। यह बहुधा उस अंग की प्रवृत्ति तथा वाग्धारा पर विचार रख कर किया जाता है। 'लालची लोचनों के तो मुँह में पानी भर आता'

जैसा प्रयोग इन दोनो बातों पर ध्यान रख कर किया गया है। लोचनों में मुँह जोड़ने से अपने भाव को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की क्षमता आ गई है।

'छिप कर आप अपने के बीच निस्सहाय
सिकुड़ सिमिट गई त्वचा हाय!
कमर ने सिर-सा झुका दिया,
हाय! वृद्ध आके तुम्हें लूट किसने लिया?'

—सियारामशरण गुप्त

ऊपर की पंक्ति—कमर ने सिर-सा झुका दिया—में 'सा' के योग से कमर में अंगी की विशेष योग्यता न आ सकी, क्योंकि कमर ने वस्तुतः अपना सिर नहीं झुकाया, बल्कि सिर-सा झुका दिया। इसीसे मिलता-जुलता एक और ढग है जिसमें केवल कल्पना के सहारे ही अर्थों का निर्णय किया जाता है। वस्तुतः उस वस्तु में वह अंग होता है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, पर उसकी अभिव्यजना कर दी जाती है। जैसे—

'अद्भुत है तेरा व्यवहार
नाविक! देखो कल्लोलित सागर के पश्चिम तट पर
खड़े हुए हैं भानु विदा केलिए नयन नीचे कर
वे हैं जाने को तैयार।'

—वियोगी

कल्लोलित सागर के पश्चिम तट पर भानु को नयन नीचे कर विदा केलिए खड़ा करना उत्प्रेक्षा-मात्र है, किंतु इस प्रकार के वर्णन भी काव्य की मार्मिकता तथा अर्थ-व्यंजना को बढ़ाते हैं।

भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ

अब हम अभिव्यजना की उन भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो का उल्लेख करेंगे जो प्रायः कम मिलती हैं, और जिनसे काव्य में अब तक किसी प्रवाह का उद्‌गम नहीं हुआ है। ऐसी प्रवृत्तियों के निदर्शन केलिए कविवर सुमित्रानंदन पंत की रचनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं। उनकी रचनाओं में अँगरेजी लाक्षणिकता तो बहुत-कुछ मिलती ही है, स्थान-स्थान पर मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं।

'विपुल कुजो की सघनता में छिपी
ऊँघती है नींद-सी मेरी स्पृहा,'

—पंत

लोग नींद के कारण ऊँघते हैं, स्पृहा नींद से ऊँघ सकती है, पर भावाधिक्य के कारण नींद से न लिख कर नींद-सी ऊँघना लिखा गया है।

'संकुचित थी प्रात जो नव क्यारियाँ
दुपहरी की, वे अरुण की ज्योति में
फूलने अब हैं लगीं, उन्मत्त कर
लोचनों को निज सुरा-सी कांति से।'

—पंत

लोचनों को सुरा पीने की क्षमता नहीं, सुरा देख कर मादकता आती नहीं। फिर 'सुरा-सी काति' से कवि ने लोचनों का सबध जोड़ ही दिया है। काति एक दृश्य गुण है और सुरा पीकर ही उन्मत्तता आती है, किंतु कवि ने इस पर विचार न कर बड़ी चतुरता से दोनों को मिला दिया है।

'तुम शैशव-स्मिति-सी सुकुमार;
मर्म-रहित, पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार।'

—पंत

इसमें स्मिति दृश्यगुण और सुकुमारता स्पृश्य गुण है, पर कवि ने स्मिति को सुकुमार बना कर अपने हृदय की सुकुमारता का परिचय दिया है।

'चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर
लो, पालें बँधीं, खुला लगर।'

—पंत

चाँदनी रात की ज्योत्स्ना में सिकता मोती की उज्ज्वलता की तरह चमक रही है। कवि मोती की उज्ज्वलता तथा ज्योत्स्ना दोनो के साम्य का कायल है, लेकिन समता में एकात्मता नहीं रहती, और कवि इसी का इच्छुक है। इसी कारण उसने मोती की तरह न लिख कर मोती की ही ज्योत्स्ना लिखी है। यह कवि की भावुकता है।

नवाँ अध्याय

उपसंहार

पिछले कई अध्यायो में हम काव्य के सिद्धातों तथा नवीन प्रवृत्तियों की चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हम हिंदी भाषा की लाक्षणिक विशेषता दिखलाते हुए काव्य की वर्त्तमान प्रगति के संबंध में कुछ कहने की चेष्टा करेंगे। यो कहा जाता है कि अँगरेजी भाषा में बड़ी लाक्षणिक चपलता है; हम इस बात को निस्संदेह स्वीकृत करते हैं, किंतु साथ ही हिंदी भाषा की इस विशेषता को भूल नहीं सकते। उदाहरण केलिए कुछ वाक्य लीजिए—वह ध्यान में मग्न हो गया, तुम उसका पार नहीं पाओगे, उसने मेरी बात काट दी। अब क्रियापदों के लाक्षणिक अर्थांतर की विशेषता पर विचार कीजिए। मग्न होने का अर्थ है डूबना, पर ध्यान कोई नदी या तालाब नहीं है जिसमें लोग डूबा करते हैं। पार पाने का अर्थ है किनारा लगना, पर कोई व्यक्ति समुद्र नही है जिसका पार पाया जा सके। काटने का अर्थ है तलवार या चाकू से विक्षत करना, पर बात कोई ऐसी स्थूल चीज तो है नहीं जो किसी हथियार से काटी जा सके। इसी प्रकार दैनिक व्यवहार के ऐसे अनेक प्रयोग दिखलाए जा सकते हैं जिनमें लाक्षणिक विशेषता भरी पड़ी है, लेकिन प्रयोग में वे इतने सध गए हैं कि उनमे किसी को लक्षणा का अस्तित्त्व सहसा लक्षित ही नहीं होता। काव्य का सौंदर्य लक्षणा से अवश्य बढ़ता है, पर उसका भी वाच्यार्थ ही लेना पड़ता है। लक्षणा का वाच्यार्थ प्रायः व्याहत तथा बुद्धि को

हिंदी की लाक्षणिक विशेषता

वाच्यार्थ मे काव्यत्व

अग्राह्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अयोग्यता में-काव्य का सौंदर्य छिपा रहता है। साधारणतः वाच्यार्थ के बाधित तथा अनुपपन्न होने पर अन्य शब्द-शक्तियों की सहायता ली जाती है, किंतु चाहे वह लक्षणा हो या व्यंजना, काव्य की रमणीयता तथा विचित्रता केलिए वाच्यार्थ ही चाहिए। लक्षणा का व्यजना के स्वरूप में काव्य का सौंदर्य धृत अवश्य होता है, पर उसमें बद्ध नहीं हो जाता। आधुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है। यदि हिंदी के कविगण इस ओर थोड़ा भी ध्यान दें तो भाषा के सौंदर्य की बड़ी वृद्धि हो।

अभिव्यजनावाद के प्रभाव से जहाँ साहित्य को थोड़ा-बहुत लाभ पहुँचा है वहाँ उसके कारण कुछ अभाव भी रहता आया है।

साहित्य का अभाव

आधुनिक कवियों का ध्यान मुक्तक रचना की ओर इतना झुका कि उन्हें प्रबध काव्य लिखने की रुचि ही न जगी। यह सच है कि पिछले कई सौ वर्षों से मुक्तक रचना की परपरा ही आ रही है। केवल दो-चार कवियों ने ही प्रबध काव्य की ओर ध्यान दिया। फलतः हिंदी में अगणित मुक्तक रचनाएँ हुईं। ऐसी कुछ बात नहीं है कि आधुनिक कवियो मे प्रबध-कल्पना की योग्यता नहीं है। आज कल के प्रायः सभी कवि काव्य-रचना से हटकर उपन्यास, कहानी, नाटक की ओर विशेष प्रवृत्त हो रहे हैं। यह प्रवृत्ति सामूहिक रूप से साहित्य केलिए अनिष्टकर नहीं है, किंतु काव्य-जगत् बिलकुल सूना पडता जाता है। कवियों की यह धारणा कि वे काव्य-रचना के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अगोपाग पर भी समान अधिकार रखते हैं,

काव्य के विकास में बाधक हो रही है। रीति-काल में भी कवियो की प्रायः यही धारणा थी। उस समय उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की रचना तो साहित्यिक गद्य के अभाव में सभव न थी, पर रस, अलंकार तथा नायिका-भेद का विवेचन तो आचार्य बन कर करते थे। कवि और आचार्य के अलग-अलग क्षेत्र हैं। दोनों में दो ढग की प्रतिभा रहती है, परतु यह अतर रीतिवादियो को मान्य न रहा। यही कारण हुआ कि उस समय एक बँधी हुई परिपाटी के भीतर ही उनलोगो ने अपना कौशल दिखलाया। स्वतंत्र उद्भावनाएँ बहुत कम हुई। जगत् और जीवन के अन्य पक्ष भी हैं, इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया। प्रत्येक कलाकार में सब कुछ लिखने की क्षमता प्रायः नहीं रहती। अतएव साहित्य के सब अगों पर बिरला ही कोई प्रौढ़ रचना प्रस्तुत कर सकता है। किस कलाकार को कौन विषय अपनाना चाहिए, इसका सबसे संतोषजनक उत्तर उसकी रुचि ही दे सकती है।

काव्य की व्यजना के प्रधान दो अंग हैं. भाव-व्यंजना तथा रूप-व्यजना। रहस्यवाद की रचनाओं मे भाव-व्यजना बहुत दूर तक हो गई है। भावों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अनभिज्ञ कवियो ने उसकी मिट्टी पलीद भी की है। मुक्तक रचनाओ मे विशेषतः भाव-व्यजना पर ही ध्यान दिया जाता है, किंतु प्रबंध काव्य केलिए भाव-व्यजना तथा रूप-व्यजना दोनो ही समान रूप से आवश्यक हैं। आजकल के कवियों की रुचि यदि रूप-व्यजना की ओर भी हो जाय तो प्रबंध काव्य की विशेष संभावना दिखाई पड़ सकती है। साहित्य का अधिकतर कल्याण तभी संभव है।

भाव-व्यंजना और रूप व्यंजना

यह युग काव्य-रचना के अनुकूल नहीं है। प्रवृत्ति पर विचार किया जाय तो स्पष्टतः यह गद्य का ही युग है। प्रत्येक आंदोलन की तरह साहित्यिक आंदोलन भी अधिक दिनों तक नहीं टिकता। एक विद्वान् समालोचक ने किसी साहित्यिक आंदोलन की आयु बीस बरस से अधिक नहीं बताई है। जिस आंदोलन में परिपाटी बनाने की योग्यता रहती है वह निश्चय ही अधिक आयुवाला होता है। अब रहस्यवाद के युग की समाप्ति हो रही है। भादों की गंगा के समान साहित्य में जो बाढ़ आई वह अब शरद् ऋतु में स्वच्छ-निर्मल हो रही है, किंतु यह निर्मलता उसके स्थायित्व की सूचना नहीं है, प्रौढ़ता की भी नहीं, वह तो एक ज्योति है जो दूसरी दिशा की ओर संकेत कर रही है। इधर कुछ दिनों से गीत लिखने का प्रचलन खूब चल पड़ा है, किंतु नाम के सिवा इसमें कोई खास विशेषता नहीं है।

गद्य का युग

साहित्य में अब ऐसे युग का निर्माण होना चाहिए जिसमें जगत् और जीवन, रूप और भाव के साथ कवि अपनी आध्यात्मिक सत्ता का मेल करा सके। काव्य-व्यापार एक ऐसी साधना की चीज है जो सब प्रकार की साधनाओं से अलग अपना महत्त्व रखती है। अभिरुचि की बात तो भिन्न है यश के प्रलोभन में पड़ काव्य-साधना को छोड़कर दूसरी दिशा में बहकाना ठीक नहीं। आधुनिक कवियों ने यदि इस व्रत का निर्वाह किया तो संदेह नहीं कि उनके पास काव्य के जो तत्त्व हैं उनसे हिंदी साहित्य का वास्तविक कल्याण होगा।

युग-निर्माण और साहित्य का कल्याण

नाम-सूची

